ज्योत्स्ना

लेखक
श्रीसुमित्रानंदन पंत

मिलने का पता
गंगा-ग्रंथागार
३६, लाटूश रोड
लखनऊ

प्रथम संस्करण

राजसंस्करण १॥)] सं० १९९१ वि० [साधारण संस्करण १)

ज्योत्स्ना

सोमा

स्नेह-भेंट

सोमा को

विज्ञापिका

काव्य के चारु चरणों से हिंदी के दारु-पथ को पार कर प्रांजल-श्री श्रीसुमित्रानंदन काव्योपवन के सांजलि खिले हुए प्रकाश-दृष्टि सुंदर गुलाब हैं। आज उन्हीं की प्रतिमा के रूप-रंग, मधु-गंध और भावोच्छ्वास की प्रशंसा से प्रति मुख मुखर है। अब वह 'ज्योत्स्ना' में मनोहर नाट्यकार के शुचि-रूप हिंदी-संसार के सामने आ रहे हैं। मैं गुलाब को देखता हूँ, उसके काँटों को नहीं। 'ज्योत्स्ना' में उनका पहला प्रिय, भावमय, श्वेत वाणी का कोमल कवि-रूप ही दृष्टि-गोचर होता है, जिसकी सुख-स्पर्श रश्मियों की तीव्र गति, हलकी थपकियाँ युग-जागृति का सर्वोत्तम साधन हैं।

लखनऊ
१—२—३४

—'निराला'

निवेदन

ज्योत्स्ना का रूपक पाठकों के सामने प्रस्तुत है। इस मून-शाइन से यदि उनका किंचिन्मात्र मनोरंजन हो सका, तो मैं अपना श्रम सफल समझूँगा।

नक्षत्र, कालाकाँकर, १९३४ } श्रीसुमित्रानंदन पंत

संध्या

ज्योत्स्ना इंदु

सुरभि पवन

कल्पना स्वप्न

उषा अरुण

छाया, विहग, किरण, ताराएँ,

ओस, झींगुर, जुगनू, भृंग,

कुसुम, लहर, तितली

आदि सेवक

सहचर

ज्योत्स्ना

श्रीसुमित्रानंदन पंत

करने बाहर निकली है, और बहुत प्रसन्न जान पड़ती है। दिन-भर के आलस्य की थकान मिटाने के लिए अपने कुम्हलाए अंगों को बार-बार खींचकर ही मानो उसने अपनी आकृति इतनी लंबी बना ली है। वह अपनी स्वच्छंदता के सुख को गाकर, ताली देकर, हँसकर, कलियों की माला गूँथकर, तरह-तरह से प्रकट करती है।

गीत

अरुण पलक, सघन अलक,
श्यामल छवि छाया।
स्वप्निल मन, तंद्रिल तन,
शिथिल वसन भाया।

जीवन में धूप-छाँह,
सुख-दुख के गले बाँह;
मिटती सुख की न चाह,
अमिट मोह माया।

जग के मग में उदास
आओ यदि, पांथ! पास,
हरूँ सकल ताप-त्रास,
शीतल हो काया।

[छाया गाती, माला गूँथती प्रवेश-द्वार से अंदर प्रवेश करती है।]

संध्या—कौन, छाया?

छाया—(संध्या के खुले बालों में बेला-कलियों की माला पहनाती हुई, नमस्कार-पूर्वक) हाँ, मैं हूँ जीजी!

संध्या—(छाया की ओर स्नेह-दृष्टि से देखकर) आज का वेश तो तेरा बड़ा विचित्र है री !

छाया—(चाटु-तुष्टि से) मेरे लबादे को कहती हैं ? यह वसंत के नए कोंपलों की परछाईं है, जीजी ! सुबह उठी, तो देखा, मेरे अंगों में नया लबादा झूल रहा है। घर की छत के छिद्र हरी-भरी मरमराहट से भर गए हैं; उनसे अब धूप नहीं टपकती। इधर-उधर छितरी शिशिर की धज्जियाँ-कड़ियाँ सर्वत्र हरियाली से लिप-पुत गई हैं। पैरों के नीचे कोमल हरित फ़र्श अंकुरित हो उठा है। मारे खुशी के मेरे कुम्हलाए अंग जैसे खिल उठे ! उन पल्लवों की अस्फुट मर्मर से स्वर मिला मैं कब तक गाती रही, कब दोपहर हुआ, कब सो गई—कुछ भी याद नहीं ! दिन-भर नए बौरों की सुगंध के साथ भौरों की गूँज ने मन में पैठकर कितने ही मधुर स्वप्नों की सृष्टि कर डाली ! दिन ढल चुकने पर जब आँखें खुलीं, तो किसी तरह आलस की थकान दूर कर आपसे मिलने चली आई।

संध्या—मैं पहले ही समझ गई थी री, तेरे स्वर में अब तरुण पत्रों का मर्मर एवं नए वसंत का उल्लास भर गया है।

छाया—(प्रसन्न होकर) मैं कभी एक-सी नहीं रह सकती, जीजी ! प्रत्येक घड़ी बदलती रहती हूँ। जब जैसी हवा चलती है, अपने को वैसा ही पाती हूँ। मैं क्या हूँ, मैं स्वयं नहीं जानती !

संध्या—(स्नेह के तिरस्कार से) तभी तो तुझे माया कहते हैं।

छाया—(हँसती है) आपको सदैव से वैसा ही देखती आई हूँ, जीजी ! शिशिर-वसंत, शीत-ताप, बाल्य-यौवन के परे, इस कर्म और आकांक्षामय विश्व के अस्ताचल पर आपका आसन पहले ही से अटल है। आपके तापसी वेश और सेवामूर्ति के सामने सूर्य का प्रकाश भी मंद पड़ जाता है। वह इस विश्व-चक्र के साथ घूमते रहने पर भी आपके श्री-चरणों में विनत पद्म-अंजलि देना नहीं भूलते।

संध्या—(सितारे काढ़ती हुई) तू आजकल वाक्-पटु भी हो गई है!

छाया—(ध्यान-पूर्वक नीले रेशम के चँदोवे को देखती हुई, उसका सिरा हाथ में लेकर) लेकिन, आज यह क्या देख रही हूँ, जीजी ! आपकी छत्र-छाया तो अपनी ही नीरव शांति के लिए प्रसिद्ध है, उसमें यह लोलुप आँखों की उत्सुकता कहाँ से आ गई ? मेरी ओर कोई इस तरह आँखें फाड़कर देखे, मैं तो सहमकर मर जाऊँ, इसीलिए रजनी जीजी के यहाँ—

संध्या—तुझे नहीं मालूम क्या, आज वसंत-पूर्णिमा है ? तू तो इंदु को जानती ही है।

छाया—जानती क्यों नहीं, रजनी जीजी के अनुरूप ही उनका लाड़ला लड़का है, जिसे दुलार से चंदो-चंदो कहकर उन्होंने आसमान पर चढ़ा दिया है। विलास की सजीव प्रतिमा ! उसके कलंक की बात भला संसार में किससे छिपी है ?

संध्या—दुर, पगली ! तू कला के महत्त्व को क्या समझे ?

इंदु का सौंदर्य-बोध और कला-प्रेम स्वर्ग में भी प्रसिद्ध है, इसी से उसे कलाधर, कलानाथ की उपाधि मिली। संसार को पहले उसी ने सौंदर्य के सम्मोहन का परिचय दिया। उसी ने जीवन के जड़, निश्चेष्ट समुद्र में उच्चाकांक्षाओं की तरंगें उठाईं। मनुष्य का हृदय अनादि काल से इच्छाकांक्षाओं में लहराता रहा है, इंदु ने ही प्रवृत्ति के सौंदर्य को पहचानकर उसे अपनी कला से सजीव किया।

छाया—(विनम्र हो) जीजी, मैं क्या जानूँ जीवन क्या है, कला क्या है। मैं जो पूछ रही थी—

संध्या—वही तो तुझे समझा रही हूँ। सुन, आज वसंत-पूर्णिमा है। आज इंदु अपने शासन की बागडोर बहू ज्योत्स्ना को देनेवाला है। उसी के राज्याभिषेक के लिए मैं यह छत्र बना रही हूँ। आज से संसार में आदर्श साम्राज्य स्थापित होगा। ज्योत्स्ना के जीवन का ध्येय विलास नहीं, प्रेम है। वह अपने साम्राज्य में स्नेह, सहानुभूति, सौंदर्य आदि उन्नत भावनाओं का प्रचार करेगी।

छाया—(आश्चर्य से) ज्योत्स्ना का राज्य? वह जिसे गाँव-भर में जुन्हाई, जम्हाई, न-जाने क्या कहते हैं! उसी ज्योत्स्ना का आदर्श साम्राज्य?

संध्या—हाँ, आदर्श साम्राज्य! वह मनुष्य के हृदय में नवीन कल्पना, नवीन उच्छ्वास, उसकी पलकों में नवीन सौंदर्य, नवीन स्वप्नों की सृष्टि करेगी। पशु-वृत्तियों से मनुष्य को

ऊपर उठाकर उसके स्वभाव को मार्जित बनाएगी। चारोओर स्नेह, सुख, सौंदर्य, संगीत का सागर उमड़ उठेगा। एक शब्द में, संसार में स्वर्ग उतर आएगा।

छाया—(आनंद और आश्चर्य से) संसार में स्वर्ग ! ऐसा क्या संभव हो सकता है, जीजी ?

संध्या—संसार कभी से आदर्श-स्थिति के स्वप्न देखता आ रहा है। मनुष्य अपनी उर्वर बुद्धि के अनेक विचारों, हृदय की मनोरम भावनाओं-कल्पनाओं से निर्मित, सब प्रकार से पूर्ण, आदर्श परिस्थितियों के लोक में रहना चाहता है। समय-समय पर उसने जीवन की पूर्णता को अनेक स्वरूप दे डाले हैं। ज्ञान-विज्ञान के बल से अनेक मानसिक, भौतिक शक्तियों पर विजय प्राप्त कर ली है। अब वह आदर्श-स्थिति का उपभोग करना चाहता है।

छाया—विधाता के विधान का रहस्य अज्ञेय है, जीजी ! मैं अनादि काल से देखती आई हूँ, संसार में चिरकाल तक कोई भी स्थिति नहीं ठहर सकती; इससे सृष्टि के स्वतंत्र विकास में बाधा पड़ती है।

[सहसा दक्षिण की खिड़की का परदा हिलने लगता है। पवन झरोखे से कूदकर अंदर आता है। पवन सुंदर, स्वस्थ, अनिलातप से पोषित स्मित-मुख युवक; बदन में हलके आसमानी रंग की जाली, जिसमें यत्र-तत्र फूलों का पराग लगा है; घुँघराली, भूरी अलकों से उलझी कलियाँ; हाथ में आम की मंजरी; गले में पत्तों की लचीली टहनी का धनुष। पवन

के प्रवेश करते ही कमरा सुगंध से भर जाता है, वह गहरी साँसें ले रहा है।]

पवन—(स्नेह-मिश्रित स्वर में) चाची, ओ चची !

संध्या—क्या है रे ?

[पवन छाया को देखकर, अट्टहास कर, डराने के अभिप्राय से दोनो हाथ उसे पकड़ने के लिए फैलाकर, चारोओर घूमने लगता है। छाया भयभीत हो, थर्-थर् काँपती हुई, द्वार की ओर भागती है।]

संध्या—ओ गँवार, ओ धूर्त !

छाया—(आँगन की ओर दौड़ती) जाती हूँ, जाती हूँ।

संध्या—(आर्द्र स्वर में) जाओ छाया। तुम दोनो तो साथ रह ही नहीं सकते !

छाया—(रुष्ट होकर) धूर्त अंधड़ का कुपूत ! संसार-भर के कूड़े की टोकरी ढोनेवाला !

[पेड़ों की आड़ में ओझल हो जाती है।]

पवन—(संध्या का अंचल झकोरता हुआ) थक गया हूँ, चाची ! थककर चूर-चूर हो गया हूँ।

संध्या—(स्नेह-उपालंभ से) थकेगा नहीं, तो क्या होगा ? एक जगह तेरे पाँव रहते हैं ? दिन-भर धूप में आवारा फिरता है।

पवन—(हाथ पर हाथ मारकर) आज दिन-भर शिकार के पीछे जंगलों में भटकता रहा ! जिधर निकला, भयभीत हिरनों के झुंड की तरह ढेर-ढेर पत्तों को मार उड़ाया ! वन की भोली-भाली प्रजा डर से काँपकर पोली पड़ जाती थी ! बड़ा

आनंद रहा! मारे प्यास के गला सूख गया, तो एक बड़ी-सी झील में कूद पड़ा, लहरों के फनों पर सवार हो उन्हें नचाया! इस कालिय-दमन के बाद, घंटों फेन की गोलियाँ बना, मछलियों को छकाता रहा। जब जी ऊब गया, जाकर देर तक पके हुए गेहूँ और सरसों के खेतों में झूलता रहा! (फिर ताली देता है) अभी घर लौट रहा था, रास्ते में, दक्षिण ओर, नदी-किनारे, कुछ बादलों के दल, बगुलों की तरह पंख फैलाए, क़तार बाँधे उड़ रहे थे; उनका पीछा किया। ऐसे छक्के छुड़ाए कि सिर पर पैर रख भागते नज़र आए! (अट्टहास)

संध्या—तेरा लड़कपन न-जाने कब छूटेगा! खेलने-कूदने के सिवा कोई चिंता ही नहीं! जा, बहुत हुआ, अब उस पीपल के पेड़ पर जाकर आराम कर।

पवन—पीपल पर मैं नहीं सो सकता, चाची! चिकने-चिकने नए पत्तों के झूले में झूलने को जी करता है।

संध्या—पागल कहीं का! जा, आम में नए बौर आए हैं, उनकी गंध पीकर तू झूमने लगेगा, बड़ी जल्दी पलकें झँप जायँगी।

पवन—वहाँ भौंरों का जो डर रहता है! गाना क्या आता है, बस हर घड़ी गुनगुनाते रहते हैं। मेरी तरह सीटी बजाएँ, तो जानूँ। मैं बरगद पर जाकर सोता हूँ, चाची!

[पवन गाता, सीटी बजाता, ताली देता आँगन की ओर जाता है।]

गीत

सर्-सर् मर्-मर् झन्-झन् सन्-सन्—

गाता कभी गरजता भीषण,
वन - वन, उपवन,
पवन, प्रभंजन ।

मेरी चपल अँगुलियों पर चल
लोल लहरियाँ करतीं नर्तन,
अधर-अधर पर धर चल चुंबन,
बाँह-बाँह में भर आलिंगन । सर्-सर्०

मेरा चाबुक सा, मृगेंद्र-सा
आहत घन करता गुरु गर्जन,
अट्टहास कर, विद्युत् पर चढ़,
जब मैं नभ में करता विचरण । सर्-सर्०

[पवन वट के पास जाकर अदृश्य हो जाता है । दूर से उड़ता हुआ सुग्गा आकर गाय की पीठ पर बैठता और पुकारता है ।]

सुग्गा—अम्मा, अम्मा !

संध्या—(प्रसन्न-मन, द्वार के पास खड़ी होकर) आ गया तू ? सब कुशल से तो हैं ?

[सुग्गा आठ साल का लड़का, हरे वस्त्र, गले में लाल रेशमी रूमाल बाँधे, दिन-भर के बाद, शाम को घर लौट आने की प्रसन्नता में, कुंद की झाड़ियों में इधर-उधर फुदकता, गरदन मटका-मटकाकर कहता है—]

सुग्गा—आ गया, मैं आ गया !

संध्या—(स्नेह-उपालंभ से) क्यों रे, तुझे घर आने की बड़ी उतावली रहती है न ? मुनिया को कहाँ छोड़ आया ?

[पूर्व दिशा से पक्षियों के चहकने का स्वर सुनाई पड़ता है।]

सुग्गा—वह सुनो, भैया हरियल सबको लिए आ रहे हैं।

संध्या—अच्छा, सबको आ जाने दे; समय भी हो गया, मैं ठाकुरजी के द्वार में दिया जला आती हूँ। (भीतर प्रवेश)

सुग्गा—सत्यं, शिवं, सुंदरम्; सत्यं, शिवं, सुंदरम्। (रटता है)

[संध्या छत पर नीली रेशमी डोरी से टँगे, चाँदी के छोटे-से डिब्बे को नीचे उतारती और उसका ढकना खोल रस्सी को फिर ऊपर चढ़ा देती है। चमचमाते हीरे की तरह शुक्र का प्रकाश कमरे में फैल जाता है। संध्या घुटनों के बल बैठ, आँखें मूँद, हाथ जोड़ ईश-वंदना करती है।

बाहर झुंड-झुंड पक्षी आकर आँगन में चहकते हैं। संध्या के बाहर आते ही मुनिया, फुलसुँही, खंजन, चटक आदि उसके चारोओर पंख फड़-फड़ाकर मँडराते एवं कंधों, बाँहों और गोद से लिपट एक साथ पुकारते हैं।]

पक्षी—अम्मी, अम्मी!

[मुनिया, खंजन, फुलसुँही, कुररी, श्यामा, हरियल, महोख, कपोत, कोयल, चटक, नीलकंठ आदि सब अपने-अपने रंग-बिरंगे परों से भूषित, छोटे-बड़े बालक-बालिकाओं के रूप में अभिनय करते हैं।]

संध्या—(वात्सल्य से) सब बच्चे आ गए? आ गई मुनिया, आ गए खंजन।? मेरी आँख का तारा! (फुलसुँही के ऊपर हाथ फेरती) तू भी आ गई फूलकुमारी, रानी बिटिया! (प्यार करती है)

फुलसुँही—मैं रानो बिटिया हूँ! सूँघो, अम्मा! मेरा मुँह

सूँघो। बताओ, किस फूल का पराग है? अच्छा, मेरे पंख सूँघो, आती है गुलाब की महक?

संध्या—पगली!

गुल्दुम—फूल, अम्मा से क्यों पूछती है? अम्मा को गंध-मरंद की बिल्कुल भी पहचान नहीं। आ, मैं बताऊँ।

(दोनो फुदककर बला, चमेली, गुलाब की झाड़ियों के पास जाते हैं)

चटक—(सामने आकर) अम्मा, ओ अम्मी!

संध्या—क्या है रे चिरोंटे? थक गया क्या? बड़ा चंचल, बड़ा नटखट है! (कुररी की ध्वनि)

वह कौन? कुररी आ रही है क्या?

महोख—(अपने भारी स्वर में) अम्मा, यह हमेशा पिछड़ जाती है, बड़ी बोदी है।

कुररी—और तू?

महोख—मेरे तो पंख ही साँझ के हैं, देखती नहीं। (अपने सिंदूरी पंख फड़फड़ाता है) मैं ही तो अपने पंखों पर साँझ को लाता हूँ।

तीतर—(बुलबुल से) आज की बाजी मेरे हाथ रही। (गरदन मटकाकर हर्ष प्रकट करता है)

बुलबुल—मुझे लड़ना बिल्कुल पसंद नहीं, विवश होकर ऐसा करना पड़ता है। (गुलाब का फूल सूँघता है)

हरियल—ओह! आज गोली के निशाने से बाल-बाल बचा! अभी तक जी धड़क रहा है।

लवा—(सहानुभूति-पूर्वक) मनुष्यों की यह कैसी निर्दयता है! हमारे आकाश-से उन्मुक्त पंखों के आनंद को देख नहीं सकते!

[आम की डाली पर कोयल कूक उठती है । मोर अपना बर्ह-भार फैलाकर संध्या के पैरों से लिपटता है ।]

संध्या—(मोर की पीठ पर हाथ फेरती) सब बच्चे आ गए! आरती का समय टल रहा है। आओ, मिलकर आरती गा लो।

[सब पक्षी दोनो ओर अर्धवृत्त पाँति में बैठ, संध्या का अनुसरण कर आरती गाते हैं। नेपथ्य में वीणा, बेला, क्लेरिओनेट आदि बाजे बजते हैं। मधुर-श्लक्ष्ण, कोमल-तीव्र स्वरों के मिश्रण से वायु-मंडल गूँज उठता है ।]

गीत

जीवन का श्रम-ताप हरो, हे !
सुख-सुखमा के मधुर-स्वर्ण से
सूने जग-गृह-द्वार भरो, हे !

लौटे गृह सब श्रांत चराचर,
नीरव तरु-अधरों पर मर्मर,
करुणानत निज कर-पल्लव से
विश्व-नीड़ प्रच्छाय करो, हे ! जी०

उदित शुक्र, अब अस्त भानु-बल,
स्तब्ध पवन, नत-नयन पद्म-दल,

तंद्रिल पलकों में निशि के शशि !

सुखद स्वप्न बनकर विचरो, हे ! जी०

[आरती समाप्त हो जाने पर कुछ पक्षी पंखों में मुँह छिपा सोने का उपक्रम करते हैं, कुछ अपनी चोंचें बच्चों के मुँह में डाल उन्हें खिलाते हैं ।]

कोयल—अम्मी, मैं आम की डाल पर सोती हूँ । (प्रस्थान)

हरियल, नीलकंठ—हम पीपल पर सोएँगे, वहाँ ठंडी हवा मिलती है ।

(प्रस्थान)

चटक, खंजन—हम बाँसों के झुरमुट में छिप जाते हैं ।

(प्रस्थान)

सुग्गा आदि—हम तो पिंजड़े में सोएँगे ।

[मैना, श्यामा, सुग्गा, लाल, अगिन आदि पिंजड़े में सोने का उपक्रम करते हैं ।]

चकोर—चार दिन की चाँदनी यौवन ! इसमें प्रेम के अंगारे चुगने ही में आनंद है ! जीवन के रुपहले पलों को निद्रा की विस्मृति में खोना मूर्खता नहीं, तो क्या है ? जाऊँ, किसी एकांत सरित-पुलिन पर बैठकर, पूनो की अपार चाँदनी में, अनिमेष आँखों से, प्रेयसी के चंद्र-मुख की शोभा का पान करूँ !

(प्रस्थान)

टिटिहरी—मैं भी जाती हूँ, कहीं हम पर आसमान न टूट पड़े, हवा में टँगकर उसे रोकती हूँ । (प्रस्थान)

[संध्या आँगन की चहारदीवारी से सटा आबनूस का बड़ा-सा किवाड़ बंद कर लेती है । अंधकार के काले परदे में सारा दृश्य ओझल हो जाता है ।]

रात्रि का प्रथम प्रहर। इंदु का विशाल, अष्टकोण, नीलम का अंतःपुर; नीहार की आसमानी छत पर जाज्वल्यमान मणि-रत्नों का नक्षत्र-लोक अविराम-लय में घूमकर शीतल प्रकाश विकीर्ण कर रहा है। वायु-मंडल में, मधुर झंकारों की तरह, विद्युत् रेखाएँ लहराकर विलीन हो रही हैं। शीशे की विशाल शिलाओं से खचित दीवारों के निम्न भागों में एक ही आकृति अनेक प्रतिच्छवियों का रूपाभास प्रतिफलित करती है। ऊपरी भाग में, प्रवाल के फ्रेमों में, सुरांगनाओं के पूर्णाकृति, निरावृत चित्र टँगे हैं।

मुख्य दिशाओं की ओर चार दीवारों में चार विशाल वृत्तचूड़ द्वार हैं, जिनमें किरणों की डोरियों में गुँथी ओस की लड़ियाँ झिल-

बिछा रही हैं। शेष दीवारों में चार बड़ी-बड़ी खिड़कियाँ, जिनमें बिजली से आलोकित बादलों के पतले-पतले परदे पड़े हैं।

अंतःपुर का घन-तरल नीहारिका का फ़र्श सुर-बालाओं के चंचल पद-क्षेपों से स्पंदित हो, पद-तलों को चूम, प्रतिपल पद्म-बिंबों से खिल-खिल उठता है; और कमरे के बीच में तरंग की तरह उठकर, निश्चल हो, अँगूठे के बल नृत्य-भाव में झुकी हुई अप्सरा की आकृति का अर्ध-वृत्त तल्प बन गया है, जो बैठते ही संकोच के कारण मंद गति-लय में दोलित होने लगता है। तल्प पर कोमल-धवल बादलों की रोमिल तहें बिछी हैं, जिनसे लटकती हुई बिजली की रुपहरी-सुनहरी रेखाएँ, ज़री की झालर की तरह, झूल रही हैं। तकियों के स्थान पर मंदार, मल्लिका, पारिजात के ढेर हैं। पास ही, हाथी-दाँत की छोटी-सी मेज़ पर, सुधा से पूर्ण स्फटिक की पारदर्शी सुराही और शंख का प्याला रक्खा है। स्वर्गीय सौरभों की साँसों से सारा अंतःपुर महक रहा है।

मुख्य द्वारों से चित्रा, रोहिणी, विशाखा, पुष्पा आदि ताराओं का गाते हुए प्रवेश; आठ से चौदह साल तक की कुमारियाँ; अंगों में हलकी दूध-फेन-सी बादलों की जाली लिपटी है; रुपहली अलकों में कुंद के फूल। ताराएँ अंग-भंगी-पूर्वक तल्प के चतुर्दिक् घूमकर, हिलते हुए नीलिमा के चिकने फ़र्श पर, नृत्य करती एवं गाती हैं।

नृत्य-गीत

कुंद-धवल, तुहिन-तरल,

तारा-दल, ए—

तारक चल हिम-जल-फल,

नील-मगन विकसित दल

नीलोत्पल, ए—(हम)।

नृत्य-निरत सकल सतत,

रवि, शशि, उडु, ग्रह अविरत,

पुलकित अणु-अणु गति-रत,

प्रेम-विकल, ए—(हम

निखिल जगत प्रेम-ग्रथित,

मोहित चर-अचर भ्रमित,

प्रेम अजर, अमर प्रथित,

जीवन चल, ए—(हम)।

[अचानक एक हिरन कमरे में घुसकर उनके चारोओर दौड़ने लगता है। हिल्लोलित फ़र्श पर उसके पाँवों की अस्पष्ट चाप सुनकर, सब ताराएँ कानों में उँगलियाँ डाल, एक दूसरे की ओर देखती हैं, गीत-नृत्य थम जाता है।]

रोहिणी—आर्द्रा, जा तो, इस उद्धत हिरनौटे को जल्दी से रजनी जीजी की कज्जल-कोठरी में बंद कर आ। सम्राज्ञी ज्योत्स्ना स्वर्गंगा में जल-विहार कर आती ही होंगी। इस प्रकार का उत्पात-उपद्रव वह नहीं सह सकतीं। अभी उस रोज़ बहन पुष्पा, नृत्य करते-करते, नीहार के आँगन के चिकने फलक पर फिसल गई थी—

विमला—(आश्चर्य-भाव से) हाँ?

रोहिणी—तू अभी नई आई है, बहन, इस तरह कई नन्वंगी ताराएँ नृत्य के उल्लास में फिसल पड़ती हैं। मर्त्य-लोकवाले इसे तारे का टूटना कहते हैं। हाँ, हमारी सम्राज्ञी उसके गिरने की आवाज से मूर्च्छित होते-होते बचीं। तभी से उन्होंने एक नवीन प्रकार के भाव-नृत्य एवं मूक अभिनय की सृष्टि की है। इंद्रलोक के कुशल कलाविद् और गंधर्व, खासकर कामे आचार्य, उस नृत्य की बड़ी प्रशंसा करते हैं।

[आर्द्रा हिरन को पकड़कर ले जाती है।]

चित्रा—वह देखो, सम्राट् और सम्राज्ञी आ रहे हैं।

[इंदु और ज्योत्स्ना का प्रवेश। साथ में चारोंओर मोतियों की बौछारें करती हुई ताराएँ। सारा अंतःपुर आलोक मे हँस उठता है। इंदु सुंदर, स्वस्थ युवक; स्मिति-दीप्त आनन आभा-चक्र से शोभित है; चूर्ण रुपहली अलकों में चंद्रमणि का तरल-आलोक जगमगा रहा है; बदन से चिपका हुआ रुपहली रश्मियों का चुस्त अँगरखा, जिसमें बाँहें नहीं। बाईं बाँह में आलोक-कनियों का केयूर: कमर से नीचे आधी जाँघों तक गलित मोतियों की लड़ियाँ लटक रही हैं, पाँवों में चाँदी के तार का फुलसीपरनुमा जूता। गले में फूलों का धनुष, बाएँ हाथ में फूलों का बाण। दायाँ हाथ शश-शावक को छाती से चिपकाए, और बाँई बाँह ज्योत्स्ना के कटि-प्रदेश से लिपटी है।

ज्योत्स्ना अनिंद्य सुंदरी; आलोक-बिंब आनन; उषा-स्मित कपोल; विशाल नील-नभ नयन; प्रलंब, पक्ष्मिल पलकें; विद्युत्-रेखाओं-सी भृकुटि; प्रवाल-ज्वाल अधर; मुक्तातप दशन; लंबी सौंदर्य-शिखाओं-सी उँगलियाँ;

आलोक-रोओं की आवी-बाँह कंचुकी; कदंब-गेंद-से [illegible] उरोज; सलमे-सितारे की हलकी नीहारिका की साड़ी; पृष्ठ-देश से लहराती हुई रेशमी चाँदनी, बादलों से छनते हुए आलोक-प्रसार की तरह झूलकर, फ़र्श को चूम रही है; जिसके दोनोओर लटकती हुई ओस की लड़ियों के छोर ताराएँ पकड़े हैं। गोरी कलाइयों में किरणों में गुंफित स्वर्नदी के दो स्फार मुक्ताफल; गले में तारा-बिंदुओं की एकावली; जिसमें तरल के स्थान पर इंदु का छोटा-सा चित्र; इंदु के बाएँ कंधे पर दायाँ कपोल, एवं दाईं बाँह बाएँ बाँह में डाले है।

छोटी ताराएँ इंदु के आने पर धीरे-धीरे अदृश्य हो जाती हैं। चित्रा, आर्द्रा आदि तल्प के चारोओर अनेक राशियों में विभक्त हो, मौन-नाट्य-पूर्वक भाव-नृत्य करती है।]

इंदु—(प्रवेश करते हुए) तुम्हें कुछ भी अदेय नहीं, प्रिये! (कुसुम-बाण को मेज़ पर, शश-शावक को तल्प पर रख) मैं अपने समस्त शासनाधिकार तुम्हें सौंप चुका हूँ। आज पृथ्वी पर सम्राज्ञी ज्योत्स्ना का साम्राज्य रहेगा, यह बात स्वर्ग में प्रसिद्ध हो चुकी है। तुम संसार में नए युग की विभा बनकर अवतीर्ण होओ। नव-जीवन की संदेश-वाहक बनकर प्राणियों को प्रेम का नवीन स्वर्ग, सौंदर्य का नवीन आलोक, जीवन का नवीन आदर्श दिखाओ। तुम्हारे हृदय को मैं समझता हूँ, वह जीव-मात्र के सुख एवं कल्याण की कामना से ओत-प्रोत है।

ज्योत्स्ना—स्वामी का मुझ पर अटल स्नेह एवं विश्वास है,

इससे मैं कृतार्थ हो गई। मैं देख रही हूँ, नाथ! मर्त्यलोक से मानवी भावनाएँ धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही हैं। प्रेम-विश्वास, सत्य-न्याय, सहयोग और समत्व, जो मनुष्य-आत्मा के देव-भोजन हैं, एकदम दुर्लभ हो गए हैं। पशु-बल, घृणा, द्वेष और अहंकार सर्वत्र आधिपत्य जमाए हैं। अंध-विश्वासों की घोर अंध-निशा में, चारोओर जाति-भेद, वर्ण-भेद, धर्म-भाषा-भेद, देशाभिमान, वंशाभिमान, दानवों की तरह किमाकार रूप धर-कर मानवता के जर्जर हृदय पर तांडव-नृत्य कर रहे हैं। विश्व का विशाल आँगन, राष्ट्रवादों की व्योमचुंबी भित्तियों से अनेक संकीर्ण काराओं में विभक्त हो गया है, जिनके शिखर पर, दिन-रात, विनाश के बादल धुआँधार मँडरा रहे हैं। अर्थ और शक्ति के लोभ में पड़कर, संसार की सभ्यता ने, मनुष्य-जाति के उन्मूलन के लिए, संहार की इतनी अधिक सामग्री शायद ही कभी एकत्रित की होगी!

इंदु—संसार की समस्या का तुमने जो निदर्शन किया, वह सत्य है, रानी! स्वर्ग के वायु-मंडल के निचले स्तर आजकल मर्त्य-लोक की आर्त-पुकारों से पीड़ित हो उठे हैं। जीव-मात्र की चिंता में निरत स्वर्ग के देवता संसार के भविष्य के लिए शंकित एवं उद्विग्न हो उठे हैं। मनुष्य-जाति के भाग्य का रथ-चक्र इस समय जड़वाद के गहरे पंक में धँस गया है। शासक-शासित, धनी-निर्धन, शिक्षित-अशिक्षितों के बीच बढ़ते हुए भेद-भावों की दुरंत खाई, मानव-सभ्यता को निगल जाने के

लिए मुँह बाए हुए है। मनुष्य के आत्म-ज्ञान का स्रोत अनेक प्रकार के भौतिक वाद-विवादों के मरु में लुप्त हो गया है। और, सभ्य जातियाँ इंद्रिय-परायणता की मृग-तृष्णा में भटककर संदेहवादिनी हो गई हैं।

जाओ रानी! देवगण तुम्हारे सहायक हों। तुम संसार में अवतरित होकर मानव-जाति को सत्य और समत्व का संदेश दो। विश्व के लिए प्रेम के प्रकाश का नवीन केंद्र बनो; जिसके चारोओर, सौर मंडल की तरह, वर्तमान अनेक संस्कृतियाँ, वाद-विवाद, ज्ञान-विज्ञान, राष्ट्र-जातियाँ, अर्थ और शक्तियाँ, यथा-स्थान एकत्रित होकर, एक विराट् विश्व-संस्कृति की परिधि के भीतर, भविष्य के आकाश में नृत्य करने लगें। तुम जाकर, अनादि काल से अनंत गतागत जीवों की भावनाओं से पोषित, प्राणि-मात्र के अनश्वर स्नेह से सिंचित, स्वयं जाग्रत्, आत्म-प्रकाश के प्रदीप को, विश्व-भर के कल्याण के लिए मानव-जाति के हाथों में रख आओ।

ज्योत्स्ना—(हाथ जोड़कर गद्गद स्वर में) स्वामी का आशीर्वाद सफल हो।

इंदु—मैं अभी तुम्हारी यात्रा का प्रबंध किए देता हूँ। (पुकारता है) खेचर! खेचर!

(पुष्प का प्रवेश)

पुष्प—(झुककर) स्वामिन्!

इंदु—कौन? पुष्प, तुम्हारे मुख पर सदैव कुहासा ही रहता

है! जाओ, किरणों से कहो, सम्राज्ञी ज्योत्स्ना का यान सुसज्जित कर शीघ्र उपस्थित करें। सम्राज्ञी छाया-पथ से मनुष्य-लोक की यात्रा करेंगी।

पुष्प—जो आज्ञा स्वामिन्! (प्रस्थान)

इंदु—आओ रानी, जाने से पहले तुम्हारे साथ कुछ मनोरंजन कर लूँ। फिर भला सम्राज्ञी को इस सेवक की सुधि कहाँ रहेगी?

[इंदु ज्योत्स्ना की बाँह पकड़कर तल्प पर बिठाता है। तल्प एक मधुर गीत-लय के साथ दोलित हो उठता है। ऊपर, छत्र की तरह, दो बादलों के टुकड़े अपने पंख फैलाकर मँडराने लगते हैं, जिन पर दो इंद्रधनुषी आभा के मंडल चक्राकार घूमते हैं।]

ज्योत्स्ना—सुधि? (हार का तरल दिखाकर) आप ही की छवि तो निरंतर मेरे हृदय-स्पदंन में झूलती है, नाथ! अच्छा, क्या मुझे मर्त्य-लोक में आकर दर्शन दीजिएगा?

इंदु—जब भी तुम मेरा स्मरण करोगी, मैं मनोगति से आकर तुमसे मिलूँगा, प्रिये!

ज्योत्स्ना—इस स्वर्ग-सुख को छोड़कर?

इंदु—जहाँ तुम रहो, वहीं मेरा स्वर्ग है, कुमू!

[इंदु मेज़ पर से सुराही उठाकर शंख के प्याले में अमृत उँडलता और ज्योत्स्ना के ओठों तक ले जाकर उत्सुक दृष्टि से उसका मुख देखता है। ज्योत्स्ना अपनी प्रलंब पलकें प्याले की ओर झुकाकर हँस पड़ती एवं ओंठ फेर लेती है।]

ज्योत्स्ना—ऊँहूँ, मैं पान नहीं करूँगी। फूल में विकास की

तरह हृदय में जो सहज प्रसन्नता व्याप्त है, वह क्या कम है? मैं पान नहीं करूँगी, नाथ!

इंदु—(पीता हुआ) जानता हूँ, तुम्हारे अधरामृत को यह देवलोक का अमृत नहीं पा सकता। पर जब मैं सुधा-पात्र को तुम्हारे लाल-लाल ओठों के पास ले जाता हूँ, उसकी बूँद-बूँद में सुरा का रंग आ जाता है; जैसे ओस के सरोवर में उषा उदय हुई हो। मैं पूछता हूँ, यह जड़ अमृत भी तुम्हारे ओठों से सहमकर लज्जा से लाल हो उठता है?

ज्योत्स्ना—(स्नेह-तिरस्कार से) आपको सुधा-पान और रसिकता के सिवा कोई काम भी है?

इंदु—यही नहीं, जब तुम इस सुराही की ओर चंचल चितवन फेरती हो, मुझे भ्रम हो जाता है, इसमें मछलियाँ खेल रही हैं! जानती हो, किसकी चितवन की चाँदनी से सरोवर में सरोज सहम जाते हैं?

ज्योत्स्ना—(लज्जा-धीर होकर) रहने दो, स्वामी!

इंदु—तुम्हारे मुख से शशि का स्नेह-संबोधन कभी से नहीं सुना, कुमू!

ज्योत्स्ना—(प्रेम-भाव का छिपे-छिपे उपभोग करने के अभिप्राय से) मुझे विनोद के लिए समय ही कहाँ मिलता है? (मेज़ पर से कुसुम-बाण उठाकर, धीरे-धीरे पंखड़ियाँ नोचकर फ़र्श पर गिराती हुई) मैं चाहती हूँ, प्रेम की भाषा अधिक संस्कृत, प्रेम प्रकट करने के हाव-भाव और भी नवीन एवं मार्जित हों।

इंदु—(ज्योत्स्ना का हाथ पकड़कर) यह क्या कर डाला, रानी! काम का कुसुमों का बाण छिन्न-भिन्न कर पैरों तले कुचल दिया! (ज्योत्स्ना खिलखिलाकर हँस पड़ती है) तुम्हारे चंचल कटाक्षों के सामने काम के कुसुम-बाण भले ही व्यर्थ हों, लेकिन मनुष्य-लोक का कार्य अंगों की इच्छाओं के विना कैसे चल सकेगा? एकांत शयन-गृह में रूठे दंपतियों को बकुल, हरसिंगार और रजनीगंधा की सुगंध कौन-सा संदेश सुनाकर मिलने को उत्सुक करेगी? रात के लंबे-लंबे प्रहर किन मधुमय स्वप्नों की सृष्टि कर उन्हें सुख से आत्म-विस्मृत करेंगे?

[ज्योत्स्ना की अनिमेष भाव-पूर्ण दृष्टि इंदु की उत्सुक दृष्टि से मिलती है। इंदु विह्वल हो उसे आलिंगन-पाश में बाँध लेता है, दोनों के मुख झुक जाते हैं। ताराएँ उल्लसित हो उनके चारोओर नृत्य करती एवं गाती हैं।]

गीत

जब मिलते मौन-नयन पल-भर,
खिल-खिल अपलक कलियाँ निर्भर
देखतीं मुग्ध, विस्मित, नभ पर! जब०

तुम मदिर अधर पर मधुर अधर
भरते, झरते हिम-कण झर्-झर्,
मोती के चुंबन-से चूकर
मृदु मुकुलों के सस्मित मुख पर। जब०
तुम आलिंगन करते, शशधर!

नाचतीं हिलोरें सिहर - सिहर,
सौ - सौ बाँहों में बाँहें भर
सर में, आकुल, उठ-उठ, गिरकर। जब०

जब रहस - मिलन होता सुखकर,
स्वर्गिक सुख - स्वप्नों से सुंदर
भर जाता स्नेहातुर होकर,
अग - जग का विरह - विधुर अंतर। जब०

[ज्योत्स्ना अपने को बल-पूर्वक इंदु की बाँहों से छुड़ाकर खड़ी हो जाती है। उसके संकेत से गीत-नृत्य थम जाता है। ताराएँ, उसी तरह, विविध रागियों में विभक्त हो, तल्प के चारोओर भावाभिनय करती हैं।]

ज्योत्स्ना—ना, ना, ना,—स्वामी! मैं मनुष्यों के लिए इससे भी सुंदर एवं सूक्ष्म भावनाओं की सृष्टि करूँगी। उनके मनोरंजन के लिए नवीन स्फूर्ति, नवीन उन्मेष, नवीन हाव-भावों की मानसी प्रतिमाएँ गढ़ूँगी। मनुष्य की रुचि को मार्जित कर उसे आदर्श सौंदर्य, आदर्श प्रेम सिखाऊँगी।

इंदु—(मुसकुराकर) जो एक बार इन विद्रुम की प्यालियों का मधु पान कर लेता है, सौंदर्य के अस्फुट गुलाब-से इस मुख का गंधोच्छ्वास पीकर बेसुध हो जाता है, वह सदैव के लिए सुरुचि-कुरुचि के बंधनों से मुक्त हो जाता है। अरुचि तो उसके पास फटकती ही नहीं। कलियों के अधरों पर मँडराने का आनंद भौंरा जानता है; आम्र-मंजरियों की गंध कोयल

ही पहचानता है; पंखों से पंख सटाकर रहने का सुख कपोत को ज्ञात है।

ज्योत्स्ना—मनुष्य को पशु-पक्षियों की आँखों से देखकर उसका मूल्य नहीं आँका जा सकता, नाथ! उसे पशु-पक्षियों से अपना आदर्श सीखना नहीं। अपनी ही आत्मा के प्रकाश में अपना महत्व समझकर उसे अपनी वृत्तियों का विकास करना है। ना, ना, स्वामी! उन्मत्तों की तरह ओठ से ओठ टकराने की इस कुरूप-प्रथा का मैं किसी तरह समर्थन न कर सकूँगी, किसी तरह भी नहीं।

इंदु—(ज्योत्स्ना की आदर्श तृषा से मन-ही-मन प्रसन्न हो, परिहास-पूर्वक) दक्षिण-पवन कलियों से कहे, मेरे स्पर्श से तुम्हारी पंखड़ियाँ पुलकित न हों; लहरों से कहे, मेरे छूते ही तुम सिहर मत उठो; या दीप पतंग से कहे, मेरे प्रकाश से आत्म-विस्मृत हो तुम प्राणों का बलिदान न करो—यह कैसे हो सकता है, प्रिये!

[पुष्प के साथ यान-वाहक किरणों का गाते हुए प्रवेश।]

गीत

हम स्वर्ग-किरण, आलोक वरण, सुकुमारी,
हम चिर अदृश्य अप्सरियाँ भू-नभ-चारी।
छवि की अलकों-सी, स्मिति की रेखाओं-सी,
जग-जीवन की झंकारों-सी सुखकारी।
हम संसृति के पट के तानों-बानों-सी,

जीवन-अंकुर-सी, सृजन-सूत्र-सी न्यारी।
हम ज्योति-वाहिनी, दृष्टि-दायिनी जग की,
सब रूप, रंग, रेखाएँ जिन पर वारी।

आशीर्वाद-सी झुकीं स्वर्ग की भू पर,
पुलकित अग-जग, अणु-अणु, तृण-तृण छविधारी।
हम सूक्ष्म शिराओं - सी छाईं दिशि-दिशि में,
बहती जिनमें जीवन-आभा उजियारी।

पुष्प—यान उपस्थित है, स्वामिन् !

किरणें—जय सम्राज्ञि ! जय सम्राट् !

इंदु—अच्छा रानी, तुम्हें अधिक विलंब नहीं करूँगा। जाओ, तुम्हारा प्रकाश तुम्हारा पथ-प्रदर्शक बने। मैंने व्योमचरों को भू-लोक में भेजकर तुम्हारे शुभागमन का समाचार सदागति पवन के पास पहुँचा दिया है। पवन तुम्हारे स्वागत का यथोचित प्रबंध कर देगा।

ज्योत्स्ना—(इंदु को प्रणाम कर) तुम्हारे प्रेम और शुभ कामनाओं को अपने साथ ले जा रही हूँ, नाथ ! मर्त्यलोक के संकटों से वे मेरी रक्षा करें।

इंदु—प्रसन्न मन से जाओ, रानी ! अपने रूप-सौंदर्य से तुमने संसार को जिस तरह मुग्ध किया, अपने भाव-सौंदर्य से भी अब उसी प्रकार मुग्ध करो।

[ज्योत्स्ना दूज की कला के यान में बैठती है, जिसके चारोओर ओस की लड़ियाँ झूल रही हैं। सप्त रंगों में आभूषित किरणें या

को कंधों पर रख, विरल जलद-पंख खोलकर चलने का उपक्रम करती हैं।]

ज्योत्स्ना—किरणो, मधुर ध्वनि में गाते हुए, मुझे छाया-पथ से ले चलो। भू-लोक के मानस-सरोवर में मेरा यान उतरेगा।

किरणें—हम लोग पलक मारते ही, संगीत की मधुर झंकार की तरह, पृथ्वी के निद्रित कर्ण-कुहर में प्रवेश करती हैं। सम्राज्ञी भार-मुक्त हैं, यान के बोझ से हम अभ्यस्त हैं।

[सहसा कमरे का प्रकाश मंद पड़ जाता है। यान और इंदु के बीच अँधियाली का पर्दा पड़ जाता है। एक ओर से श्याम-वर्ण रजनी प्रवेश करती है। सलमे-सितारे की काली रेशमी साड़ी; लंबे-लंबे सघन नील आलुलायित कुंतल स्कंध, पृष्ठ एवं वक्ष पर बिखरे हुए पड़ी तक लटक रहे हैं, जिनमें जुगनुओं की लड़ियाँ जगमगा रही हैं। साथ में ठिगने, बौने, गदबदे मनुष्य के वेश में उलूक है। भूरे रंग के वस्त्र; टेढ़ी नुकीली नाक; बिल्ली की तरह बड़ी-बड़ी गोल, चमकीली आँखें, जिनके चारोओर रोओं की भौरियाँ उठी हैं; पीठ पर रोमिल पंख; सिर पर बालों की चोटी।]

रजनी—(स्नेह-भाव से) तुम्हारी यात्रा का समाचार सुन तुम्हें आशीर्वाद देने आई हूँ, बहू ! तुम लाड़-प्यार से पली, दूध में नहाई, भोली-भाली बच्ची हो। अभी भले-बुरे का बोध भी तुम्हें अच्छी तरह नहीं हुआ। तुम्हें मर्त्य-लोक में किसी प्रकार का कष्ट न हो, अपने विश्वस्त अनुचर उलूक को तुम्हारे साथ किए देती हूँ। दुस्समय में यह तुम्हारी सहायता करेगा।

मर्त्य-लोक के प्रत्येक गली-कोने से यह भली भाँति परिचित है। (उलूक से) बहू का साथ मत छोड़ना रे, अच्छा !

उल्लू—(भारी स्वर में) हूँ-ऊँ।

[ज्योत्स्ना रजनी को प्रणाम करती, रजनी उसे आशीर्वाद देती है। किरणें पंख खोलकर, गाते हुए, उड़ने का उपक्रम करती हैं ।]

गीत

रजत किरण, रजत बरण,
पुलकित तन, चपल चरण !
तड़ित-चकित चल चितवन,
तुहिन - शुभ्र स्मिति वितरण ! रजत०

[उल्लू पंख मारता हुआ सबके आगे निकलकर ओझल हो जाता है, गान अभी अदृश्य नहीं होता, परदा गिरता है ।]

तीन

[रात्रि का द्वितीय प्रहर; भूलोक के निर्जन पर्वत-प्रांत का एक दृश्य; अंतरिक्ष के नीरव-कूलों में चाँदनी का अपार फेनिल सागर उमड़ रहा है। चारोओर सीप के पंखों में उड़ते हुए व्योमचर होनेवाले अलौकिक दृश्य की सूचना दे रहे हैं। वायु के प्रश्वासों से वनौषधियाँ, फ़ासफ़रस की तरह सुलगकर, रंग-विरंगे आलोक उद्गत कर रही हैं। दूध की तरंगों के समान उठे हिम-शिखरों की उपत्यका में, पृथ्वी के विशाल अंचल-सा, मानस-सरोवर फैला हुआ है। हिम की उज्ज्वल शिलाओं में पुनः-पुनः प्रतिफलित चंद्रातप, आँखों को चकाचौंध कर अनेक वर्णों की रत्नच्छाया प्रसरित कर रहा है।

सरोवर के बीच में बेला, जुही एवं कुंद-कलियों की बंदनवारों से सज्जित, चाँद की कला के आकृति की, विशद रुपहरी नाव है; नाव पर चाँदी की चौकड़ी भरते हिरनों की पीठ पर मोतियों से खचित हाथीदाँत का सिंहासन, जिसमें फेन-कोमल मख़मल की ज़रीदार गद्दियाँ और तकिए लगे हैं। दोनोओर दो उड़ते हुए चाँदी के हंस, जिनके पंखों पर हीरे की कनियाँ दमक रही हैं। ऊपर आसमानी रेशम का झूमता हुआ छत्र मणि-किरणें विकीर्ण कर रहा है; छत्र की परिधि से मोतियों की लड़ियाँ झूल रही हैं।

सिंहासन के चतुर्दिक् हँसमुख, किशोर-वयस ओसों की पाँति; आठ से दस साल के बच्चे, चमकीले टसर के वस्त्र अबरक के पत्रों से झलमला रहे हैं; चाँदी की चूर्ण अलकों में छोटे-छोटे मोती बिखरे हैं; उत्सुक अधीर दृष्टि; अंगों को हिला-डुलाकर बाल-सुलभ चंचल हाव-भाव प्रकट कर रहे हैं। बाईं ओर पुष्पों के हृदय से उच्छ्वसित दुर्निवार कामना-सी सुरभि, पुष्पों की चटकीली पंखड़ियों से लदी, लालसा-से लाल पल्लवों की चोली पहनी, मदिर गंध निर्गत करती, केसरी अलकों में रजनीगंधा की माला बाँध रही है। दाईं ओर छरहरे बदन का सुंदर, स्वस्थ, युवक पवन अनिमेष अतृप्त दृष्टि से सुरभि का उन्मुक्त सौंदर्य पान कर रहा है। सरोवर में कुँई का वन, अँगूठे के बल खड़ा, मुग्ध दृष्टि से आकाश की ओर देख रहा है। इधर-उधर कुछ राजहंस लंबी-लंबी ग्रीवाएँ पीठ पर रक्खे सो रहे हैं।

ओस बाल-कौतूहल-वश चारोओर कुदक-कुदककर, चंचल नाट्य-पूर्वक गाते हैं। नेपथ्य में बेला और जलतरंग बजता है।]

गीत

जीवन चल, जीवन कल,

जीवन हिम-जल-लघु-पल ।

विश्व सुखद, विश्व विशद,

विश्व विकच प्रेम-कमल ।

खिल-खिलकर, झिलमिलकर

हिल-मिल लें, बंधु ! सकल ;

जन्म नवल, अगणित पल

लेंगे कल, सृजन प्रबल ! जी॰

पवन—सम्राज्ञी के आने में न-जाने क्यों विलंब हो रहा है !

(आकाश में मधुर संगीत-ध्वनि गूँजती है)

सुरभि—वह सुनो, सम्राज्ञी का आगमन-सूचक मंगल-संगीत सुनाई पड़ता है। आकाश से मधुर स्वरों की पुष्प-वृष्टि हो रही है ।

(धीरे-धीरे गीत-ध्वनि स्पष्ट हो उठती है । नेपथ्य में बाजा बजता है ।)

पवन—जान पड़ता है, चिरकाल से मूक आकाश-वीणा, आज अपने ही आनंद से मुखरित हो, मधुर, मंद झंकारों में गूँज उठी है ।

(किरणों का मधुर, श्लक्ष्ण स्वर सुनाई पड़ता है)

आकाश-गीत

सजल स्निग्ध स्मिति, मधुर मंद गति री

इंदु-किरण अमृतोज्ज्वल !

चटुल लहर पर चपल लास कर,
मुकुल अधर पर मृदुल हास भरतीं
चूम-चूम स्वप्निल-दल !
रजत-स्वर्ण परियों - सी सुंदर,
उतर मुग्ध तंद्रिल पलकों पर,
सुख-स्वप्नों से नित हँस-हँस रँगतीं
जगती के दृग-अंचल । सजल०

पवन—(आकाश की ओर संकेत कर) वह देखो, उस तीव्र वेग से घूमते हुए ज्योति-विंदु को !

(सब उत्सुक-दृष्टि आकाश को देखते हैं)

एक ओस—मोती, देखो सम्राज्ञी का यान ! (ताली बजाता है)

पवन—अब देखो, राजहंस की तरह प्रकाश के पंख फैलाए—

मोती—चटुल ! पोत ! (उँगली उठाकर) वह देखो; विमल ! रत्ती ! देखो ! (सब ओस आश्चर्य-चकित देखते हैं)

पवन—असंख्य किरणों के पंख फैलाए, एक नवीन आलोक-सृष्टि पृथ्वी पर अवतरित हो रही है। जान पड़ता है, भू-लोक को समीप जानकर चतुर यान-वाहकों ने अपना वेग मंद कर लिया है।

(आकाश-वाणी)

किरणें—सम्राज्ञी ! इंद्र, गंधर्व, मेघ, मरुत-लोकों को पार

कर अब हमारा यान भू-लोक के समीप आ गया है। वह देखिए, नीचे पृथ्वी-तल का दृश्य !

ज्योत्स्ना—देख रही हूँ,—दूर से, शून्य दिगंत में घूमती हुई जो पृथ्वी गोल लट्टू के समान छोटी जान पड़ती थी, और नीचे उतरने पर जो भूमि-रेखा समुद्र के उच्छ्वसित वक्ष में मुँह छिपाए, स्तन-पान करते हुए शिशु-सी लगती थी, वही पास पहुँचने पर, उच्च हिम-किरीट से शोभित, सरिताओं के चंचल मुक्ताहारों से मंडित, शस्य-श्यामल अंचला, अनंत संतप्त प्राणियों की पुण्य-धात्री, अचला के रूप में बदल गई है। वे जुगनुओं की तरह चमकते शायद धनिकों के प्रासाद हैं। और, इधर-उधर, निष्प्रभ छींटों-सी छितरी, निर्धनों की दीन-हीन बस्तियाँ। बीच-बीच में लंबे, पतले, साँपों की तरह बल खाए, टेढ़े-मेढ़े, वे शायद रास्ते हैं।

एक किरण—सूर्य के मुक्त प्रकाश में नृत्य करती, वायु के नील रेशमी अंचल को फहराती, हरित शस्य की चोली पहनी, हँसमुख चंचल बालिका-सी यह पृथ्वी सदैव से देवताओं की दुलारी रही है।

ज्योत्स्ना—ठीक कहती हो। असंख्य कोटि के जीवों एवं मनुष्यों से युक्त, वन-उपवन, मरु-उर्वर, पर्वत-समुद्रों से निर्मित यह पृथ्वी अपनी समस्त विभिन्नताओं के रहते हुए भी एक है। ये अभ्रभेदी पर्वत और दुस्तर समुद्र भी इसकी एकता को नष्ट नहीं कर सकते। जिस प्रकार यह बाहर से एक है, उसी

प्रकार भीतर से भी इसे एक आत्मा, एक मन, एक वाणी और एक विराट् संस्कृति की आवश्यकता है। यह समस्त विश्व-चक्र एक ही अखंडनीय सत्ता है, एक ही विराट् शक्ति के नियमों से संचालित हैं। मानव-जाति अपने ही भेदों के भुलावे में खो गई है। उसे इस अनेकता के भ्रम को आत्मा की एकता के पाश में बाँधकर, समस्त विभिन्नता को एक विश्वजनीन स्वरूप देकर नियंत्रित करना होगा। अनियंत्रित प्रकृति विकृति-मात्र है। एक बार मैं समस्त मानव-समाज को महासागर की असंख्य तरंगों की तरह एक ही भावोच्छ्वास से आंदोलित-उद्वेलित, एक ही नृत्य-लय में उठते-गिरते, और एक ही मानव-प्रेम के राग से मुखरित-उल्लसित देख पाती !

किरणें—समस्त जीव-जगत् निद्रा की सुखद गोद में विश्राम कर रहा है। साँसों के आवागमन के सिवा प्राणियों के मनोलोक में संपूर्ण मानसी क्रियाएँ निश्चेष्ट हो सो रही हैं। इस समय जड़-चेतन में कुछ भी भेद नहीं जान पड़ता।

ज्योत्स्ना—किरणो, मेरा यान इसी मानस-सरोवर में उतरेगा, जो कोई की असंख्य आँखें खोल, अनिमेष हो, मेरी प्रतीक्षा कर रहा है।

किरणें—ऐसा ही होगा, सम्राज्ञि !

[पुनः गीत-ध्वनि; नेपथ्य में बाजा बजता है। सब लोग एकटक आकाश की ओर देखते हैं।]

गीत

तुम चंद्र-वदनि, तुम कुंद-दशनि,
तुम शशि-प्रेयसि, प्रिय-परछाँई।
नभ की नव-रँग सीपी से तुम
मुक्तामा सदृश उमड़ आई।
उर में अविकच स्वप्नों का युग,
मन की छवि तन से छन छाई।
श्री, सुख, सुखमा की कलि चुन-चुन
जग के हित अंचल भर लाई।

[धीरे-धीरे प्रकाश बढ़ता है एवं सारा दृश्य आलोक-प्लावित हो उठता है। इंद्रधनुषी किरणों द्वारा वाहित, मधुर-मुखरित, ज्योत्स्ना का दिव्य-यान नाव पर अवतरित होता है। सरोवर में राजहंसों का दल असमय आँखें खुल जाने पर, ग्रीवा उठा-उठाकर कल-ध्वनि करता है।]

ओस—(एक साथ) सम्राज्ञी की जय !

पवन-सुरभि—सम्राज्ञी की जय !

[ज्योत्स्ना सिंहासन पर आसीन होती है। दाएँ-बाएँ पार्श्वों में पवन और सुरभि, उनके चतुर्दिक् किरणें अपना स्थान ग्रहण करती हैं। ओस स्वागत-गान गाते हैं।]

गीत

सरल चटुल, विमल विपुल,
हिम-शिशु हुलसाए

दल-दल पर, झलमल कर,

मोती मुसकाए !

मुकुल-मुकुल पर विलास,

कलि-कलि पर हास-हास,

तृण-तृण पर तरल लास,

भू पर उडु छाए !

स्वागत, सम्राज्ञि ! आज,

श्री-सुख के सजे साज,

चल-छवि कल तुहिन-ताज,

मणि-द्युति गल जाए।

[ज्योत्स्ना के संकेत से गीत-नृत्य थम जाता है। ओस सिंहासन के दोनोंओर दो टोलियों में बँटकर चंचल नाट्य-पूर्वक मूक-अभिनय करते हैं।]

ज्योत्स्ना—(प्रसन्न भाव से) तुमसे और सुरभि से मिलकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई, पवन !

पवन—सदैव से स्वच्छंद-प्रकृति पवन को सम्राज्ञी के सौजन्य ने वशीभूत कर लिया।

सुरभि—सुरभि सम्राज्ञी की सेवा के लिये सदैव प्रस्तुत रहेगी।

ज्योत्स्ना—पवन ! संसार की इस समय क्या स्थिति है, मुझे संक्षेप में सुनाओ। तुम सदागति हो, तुमसे कोई भेद छिपा नहीं रहता।

पवन—सम्राज्ञी, इस युग के मनोजगत् में सर्वत्र ऊहापोह और क्रांति मची है। एक ओर धर्मांधता, अंध-विश्वास और जीर्ण रूढ़ियों से संग्राम चल रहा है; दूसरी ओर वैभव और शक्ति का मोह मनुष्य की छाती को लोह-श्रृंखला की तरह जकड़े हुए है। बुद्धि का अहंकार, प्रखर त्रिशूल की तरह बढ़-कर, मनुष्य के देवत्व-प्रिय स्वभाव एवं आदर्श-प्रिय हृदय को स्वार्थ की नोंक से छेद रहा है। विद्वान् लोग जीवन के गूढ़ प्रश्नों एवं विश्व की जटिल समस्याओं पर विज्ञान का नवीन प्रकाश डालकर सृष्टि के गूढ़ रहस्यों को नवीन ढंग से सुल-झाने की चेष्टा कर रहे हैं। विकासवाद के दुष्परिणाम से, भौतिक ऐश्वर्य पर मुग्ध एवं इंद्रिय-सुख से लुब्ध मनुष्य-जाति, समस्त वेग से, जड़वाद के गर्त की ओर अग्रसर हो रही है। मानव-सभ्यता का अर्थवाद की दृष्टि से ऐतिहासिक तत्त्वा-वलोचन करने पर समस्त प्राचीन आदर्शों, विचारों, संस्कारों, नैतिक नियमों एवं आचार-व्यवहारों के प्रति विश्वास उठ गया है। मनुष्य मनुष्य न रहकर एक ओर निरंकुश धनपति, दूसरी ओर आर्त श्रमजीवी बन गया है। इस आंतरिक विपर्यय के कारण संसार का मनोलोक, द्रवित वाष्प-पिंड की तरह प्रलय-वेग से घूमकर, अपने अंतरतम जीवन में समस्त विरोध उन्मू-लक एवं विश्व-व्यापी परिवर्तन का आवाहन करना चाहता है। अपने अस्पष्ट भविष्य को सुस्थ, स्पष्ट एवं सबल स्वरूप देकर मनुष्य संसार की सभ्यता के इतिहास में नवीन स्वर्ण-युग का निर्माण

करना चाहता है। जब तक वह किसी संतोष-जनक परिणाम पर नहीं पहुँच सकेगा, सृष्टि के सरल, सुगम, सनातन नियमों पर उसका अविश्वास ही बना रहेगा। और, चारो-ओर अज्ञान, अंधकार, पशुबल एवं तामसी प्रवृत्तियों का बोल-बाला रहेगा।

ज्योत्स्ना—जान पड़ता है, मनुष्य को यथार्थ-प्रकाश की आवश्यकता है। इस अनादि, अनंत जीवन पर अनंत दृष्टिकोणों से प्रकाश डाला जा सकता है। ज्ञान-विज्ञान से मनुष्य की अभिवृद्धि हो सकती है, विकास नहीं हो सकता। सरल, सुंदर और उच्च आदर्शों पर विश्वास रखकर ही मनुष्य-जाति सुख-शांति का उपभोग कर सकती है, पशु से देवता बन सकती है। आदर्श चिरंतन अनुभूतियों की अमर प्रतिमाएँ हैं, वे तार्किक सत्य नहीं, अनुभावित सत्य हैं। आदर्शों को सापेक्ष दृष्टि से देखने से उनका मूल्य नहीं आँका जा सकता; उन्हें निरपेक्षतः मान लेने पर ही मनुष्य उनकी आत्मा तक पहुँच सकता है। निरपेक्ष सत्य शून्य नहीं; वह सर्व है। प्रत्येक वस्तु का निरपेक्ष मूल्य भी है। आदर्श व्यक्ति के लिये असीम हैं। देश काल समाज आदर्शों की सीमाएँ हैं, सार नहीं; उनके इतिहास हैं, तत्त्व

(नेपथ्य में झिल्ली की कर्कश झंकार सुनाई पड़ती है)

ज्योत्स्ना—पृथ्वी पर उतरते ही मर्त्यलोक के प्राणियों का तर्क-वितर्क, ऊहापोह, चीत्कार-किलकार कानों के परदे फाड़ने

लगा ! इस आनंद-पूर्ण सृष्टि का अर्थ इन्होंने जीवन-संग्राम समझ लिया है। रात-दिन द्वंद्व-संघर्ष, वाद-विवाद, ईर्ष्या-कलह के सिवा इन्हें और कुछ सूझता ही नहीं ! हाय, इंद्रियों की मदिरा पीकर यह मनुष्य-जाति उन्मत्त हो गई है ! इसने अपनी आत्मा के अमर आनंद को क्षण-भंगुर इंद्रियों के हाथ बेच दिया है ! इसकी समस्त शक्ति मृगतृष्णा के स्वर्ग का निर्माण करने में लगी है, जो इसे विनाश के मरु में भटकाकर सदैव और भी दूर भागता जाता है ! प्रकृति की इस अपार रूप-राशि पर मुग्ध होकर मनुष्य का प्रकृतिवादी बन जाना आश्चर्य की बात नहीं, किंतु इससे मुक्त न हो सकना अवश्य ही दुःख की बात है।

[एक नाटे क़द, गठीले बदन के बलिष्ठ मनुष्य के वेश में झींगुर का प्रवेश। ताँबे का-सा रंग; दृढ़ पुट्ठे; लौह-तार-सी नाड़ियाँ; सख़्त चौड़ा पंजा; मोटी, न मुड़नेवाली उँगलियाँ; काँच की-सी चमकीली, भाव-शून्य आँखें; मोटे होंठ; तीर-सी तनी लंबी-लंबी बँटी मूँछें। इस मनुष्य के अंगों में मांस का लचीलापन नहीं, वे मशीन के पुरज़ों की तरह, एक निश्चित यांत्रिक भाव से संचालित हो रहे हैं। मुखाकृति में एक प्रकार की अविश्वास-जनित तीव्र सतर्कता व्याप्त है। इसके कंधों पर लोहे की बुनी जाली, कलाइयों पर लोहे के पट्टे बँधे हैं। कमर में पिस्तौल, तलवार, चाक़ू आदि अस्त्र-शस्त्र लटक रहे हैं। हाथ में वाद्य के ढंग का लौह-यंत्र है, जिस पर वह आरानुमा लोहे का गज़ फेरकर, एक प्रकार का कर्कश घर्घर-रव पैदा करता हुआ, परुष स्वर में गा रहा है।]

गीत

जो है समर्थ, जो शक्तिमान,
जीने का है अधिकार उसे।
उसकी लाठी का बैल विश्व,
पूजता सभ्य - संसार उसे!

दुर्बल का घातक दैव स्वयं,
समझो बस भू का भार उसे।
'जैसे को तैसा'—नियम यही,
होना ही है संहार उसे।

है दास परिस्थितियों का नर,
रहना उनके अनुसार उसे।
जीता है योग्य सदा जग में,
दुर्बल ही है आहार उसे!

तृण, झष, पशु से नर-तन देता
जीवन-विकास का तार उसे,
वह शासन क्यों न करे भू पर
चुनना है सबका सार उसे! जो०

ज्योत्स्ना—पवन, इस मर्त्यलोक के दूत से कहो, अपना बेसुरा आलाप बंद करे, नहीं तो हम बहरे हो जाएँगे।

[बाजे में कर्कश-नाद करते हुए झींगुर का प्रस्थान।]

ज्योत्स्ना—मनुष्य का ऐसा बर्बर वेश देखकर, उसके मुँह से पाशविक सिद्धांतों एवं आसुरी उद्गारों को सुनकर आश्चर्य

होता है। "समर्थ और शक्तिशाली को ही जीने का अधिकार है", दुर्बलों का दैव भी घातक है", आदि,—नैतिक अतिवाद जीवन के नियम बन रहे हैं। सर्वत्र अतृप्ति ही अतृप्ति है! घृणा से घृणा ही बढ़ती है। वैमनस्य से वैमनस्य ही पैदा होता है। स्नेह, समत्व, सहृदयता आदि मानव-स्वभाव की उच्च विभूतियों से उसका विश्वास ही उठ गया है। ना, ना, इस तरह मेरा कार्य नहीं चलेगा। मनुष्य को इस अपूर्ण एकांगी बुद्धिवाद से ऊपर उठना पड़ेगा। (पवन औरसुरभि से) पवन! तुम्हारे स्वभाव की उत्तेजनशील भाव-प्रवणता और सुरभि के सौंदर्य की अतिशय मादकता से मै अच्छी तरह परिचित हूँ। सुरभि! तुम तरुण वसंत के हृदयोच्छ्वास से निःसृत, यौवन की उद्दाम लालसा की सजीव प्रतिमा हो। तुम दोनो के मधुर-सम्मिलन से, मनुष्य-जाति के मंगल के लिए मैं दो सूक्ष्म तत्त्वों को जन्म देना चाहती हूँ। जो अपनी ही सूक्ष्मता के प्रभाव से संसार के मनोलोक में प्रवेश कर, मनुष्यों के हृदय में उन्नत, संस्कृत भावनाओं का विकास एवं प्रचार करेंगे।

पवन-सुरभि—सम्राज्ञी की इष्ट-सिद्धि के लिए पवन और सुरभि अपने जीवन उत्सर्ग करने को प्रस्तुत हैं।

ज्योत्स्ना—(प्रसन्नता-पूर्वक) मुझे तुम लोगों से यही आशा थी। मेरी अलौकिक शक्ति तुम्हारे इस आत्मत्याग में सहायक होगी।

[ज्योत्स्ना खड़ी होकर, दोनों हाथों से अपने अंचल-छोर को नाव पर बैठे हुए ओस और किरणों के ऊपर फेरती है। चाँदनी के स्वप्निल

प्रभाव से सब लोग अपने स्थान पर बैठे, ऊँघने लगते हैं; एवं माथा झुकाकर धीरे-धीरे तंद्रामग्न हो जाते हैं। चारोओर हरे रंग का आलोक फैल जाता है। वायु-मंडल में बुक्के का चूर्ण प्रकाश-कणों की तरह बरस-बरसकर चमकने लगता है। ज्योत्स्ना ताली बजाती है। छोटे-छोटे पंख फैलाए हुए दीपों-से जुगनू, ऊपर से परियों के बच्चों की तरह उतर-कर चारोओर उड़-उड़कर, मौन-नाद्य-पूर्वक नृत्य करते हैं। पाँच से सात साल तक के बालक, हलके वस्त्र पहने, पीठ पर बिजली का छोटा-सा बल्ब लगाए जुगनुओं का अभिनय करते हैं। नेपथ्य में बाजा बजता है। प्रकाश धीरे-धीरे नीला, पीला, गुलाबी, बैंगनी, कई प्रकार के रंग बदलता है, और जुगनुओं का रंग भी उसी प्रकार परिवर्तित होता जाता है। कोमल मुखर कंठों का स्वर वायु में गूँज उठता है।]

गीत—

जगमग - जगमग, हम जग का मग,
ज्योतित प्रतिपग करते जगमग।

हम ज्योति - शलभ, हम कोमल-प्रभ,
हम सहज सुलभ दीपों के नभ !

चंचल, चंचल, बुझ-बुझ, जल-जल,
शिशु-उर पल-पल, हरते छल-छल !

हम पटु नभचर, हँसमुख सुंदर,
स्वप्नों को हर लाते भू पर !

झिलमिल - झिलमिल, स्वप्निल, तंद्रिल,
आभा हिल - मिल, भरते झिलमिल !

[इसी बीच में ज्योत्स्ना पवन और सुरभि को अपनी छिगुनी से छू देती है; दोनो उद्दीपित हो एक दूसरे की ओर आकर्षित होते हैं। पवन निर्निमेष दृष्टि से सुरभि के मुख को देखता हुआ धीरे-धीरे उसके पास पहुँचता है। दोनो की चार आँखें होतीं, सुरभि का सिर झुक जाता है। पवन सुरभि का हाथ अपने हाथ पर लेता है। दोनो देर तक एक दूसरे का मुख देखते हुए अपने को भावावेश में भूल जाते हैं। नेपथ्य में गीत की लय द्रुत से द्रुततर होती जाती है। जुगनू उसी प्रकार गाते रहते हैं।]

पवन—(गीत थम जाने पर) सुरभि !

सुरभि—नाथ !

पवन—तुम अपनी मादक साँसें पिला-पिलाकर मेरी आँखों के सामने यह किस छाया-लोक की सृष्टि कर रही हो, प्रिये ! मैं आत्म-विस्मृत हो, देश-काल से परे, एक दूसरे ही स्वप्न-जगत् में घूम रहा हूँ ! उस लोक की सौंदर्य-सुखमा के सामने यह संसार विश्री और बासी लगता है। तुम्हारे इस अस्फुट हृदय में इतना लावण्य, इतनी मादकता और मधुरता कहाँ छिपी थी, प्रियतमे !

सुरभि—मेरे अनंत यौवन का मधु तुम्हारे ही लिए है, प्रियतम ! मेरी हृदय-कली के तुम्हीं एकमात्र मधुप हो।

[प्याली की आकृति की अधखिली कली पवन के ओठों से लगाती है। पवन मधु-पान करता है।]

पवन—तुम्हारे पिलाए मधु से तृप्ति ही नहीं होती। (फिर

पीता है) ओह, मेरे अंग-अंग शिथिल होते जा रहे हैं। अलस इच्छाओं के सुख से पलकें लदकर झमने लगी हैं। इच्छामयी ! कामनामयी ! (मुँदती हुई आँखों को चेष्टा-पूर्वक खोलकर) प्रियतमे !

सुरभि—प्रियतम !

[पवन सुरभि को पास बिठाकर अपनी बाँहों में बाँध लेता है। दोनो देर तक इसी प्रकार प्रेम-विह्वल एवं बेसुध रहते हैं। ज्योत्स्ना जुगनुओं को संकेत करती है। जुगनू पवन और सुरभि के चारोओर मँडराकर गाते हैं; नेपथ्य में बाजा बजता है।]

गीत

हम हैं प्रकाश के शिशु सस्मित,
जग के तम में हँस-हँस पड़ते।
जीवन की चिनगारियाँ अमर,
फिर-फिर बुझते, फिर-फिर जलते।
हम एक ज्योति की बहु बूँदें,
जग-करतल में चू-चू झरते।
हम जागृति के उज्ज्वल लघु-पल,
जगती की चिर - निद्रा हरते।
दुबिधा के तम में ज्योति दिखा,
हम पथ-प्रदीप उर के बनते।
छाया-पथ से हर स्वप्नों को
संदेश सुखद जग से कहते।

पवन—(आँखें बंद किए) आँखों के सामने परदे के बाद परदे खुल रहे हैं ! कैसा अपार सौंदर्य है ! कैसा असीम आनंद ! यह छाया-जगत् ही संसार का मनोलोक है, जिसके नेपथ्य में छिपी हुई अदृश्य सूक्ष्म शक्तियाँ विश्व के रंगमंच पर अभिनय करने को अवतरित होती हैं ! रूप, छवि, प्रतिछवि !—सब कुछ सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतम होता जा रहा है ! ओह, इस भावना का कहीं अंत है !

सुरभि—कैसा सम्मोहन ! कैसी परितृप्ति है ! मेरा हृदय देह के बंधनों से मुक्त हो, सदैव के लिए इस सौंदर्य के स्वर्ग मेंलीनहोकर तदाकार बन जाना चाहता है ! कैसा मधुर-मधुर आकर्षण है !

पवन—प्रिये, यह जागृति है या स्वप्न ?

सुरभि—नाथ, यह सत्य है या कल्पना ?

[स्वप्न और कल्पना साकार हो दो देव-दूतों की तरह, ऊपर से उतर-कर पवन और सुरभि के सामने झूलने लगते हैं। स्वप्न सुंदर, सुकुमार युवक; विस्मय से पूर्ण निर्मल नील नयन; गुलाब-से सस्मित कपोलों पर पीले भौंरों की पाँति की तरह सुनहली अलकें बिखरी। बदन में रेशमी आलोक की छाया वस्त्र की तरह लिपटी है, जिससे देह की आभा बालातप-सी झलक रही है। दोनों कंधों पर विस्फारित पलकों की तरह दो आलोकित पंख हैं। नीचे की देह में नीहारिका की तरह हलका आसमानी वेष्टन झूल रहा है।

कल्पना विकच-यौवना, सर्वांग-सुंदरी; अकूल नील नयन; कोमल दृष्टि; मेधावी नासिका; सरल अकलुष स्मिति; सजीव कपोल; स्वभाव-

संस्कृत मुखाकृति; अनेक रंगों का छायातप झीने पट की तरह अंगों में झूल रहा है, दोनो कंधों पर मयूर-पुच्छ की तरह दो पंख हैं।]

पवन—कैसा स्वर्गीय सौंदर्य है!

सुरभि—कैसा स्वर्गीय सम्मोहन!

[ज्योत्स्ना ताली बजाती है; गीत-नृत्य थम जाता है। जुगनू धीरे-धीरे ओझल हो जाते हैं। पवन और सुरभि आलिंगन-पाश खोल यत्न-पूर्वक उठकर अपने-अपने स्थानों पर खड़े हो जाते हैं। ओस और किरणें आँखें खोलते हैं। स्टेज पर हलका आसमानी प्रकाश छा जाता है। स्वप्न और कल्पना पृथ्वी पर अवतरित हो राज्ञी का अभिवादन कर गाते हैं। सब लोग आँखें मल-मलकर एकटक उनकी ओर देखते हैं। नेपथ्य में बागेश्री की धुन बजती है।]

गीत,

शिशुओं के अविकच-उर में
हम चिर रहस्य बन रहते।
छाया-वन के गुंजन में
युग - युग की गाथा कहते!

अनिमिष तारक-पलकों पर
हम भावी का पथ तकते।
नव - युग की स्वर्ण-कथाएँ
ऊषा-अंचल पर लिखते!

सीमाएँ बाधा - बंधन,
निःसीम सदैव विचरते;

हम जगती के नियमों पर
अनियम से शासन करते !

हम मनोलोक से जग में
युग-युग में आते - जाते,
नव जीवन के ज्वारों में
दिशि-पल के पुलिन डुबाते !

स्वप्न और कल्पना—इन मानवी भावनाओं के वस्त्र पहना एवं मानवी रूप, रंग और आकार ग्रहण कराकर हमें आपने उन्मुक्त निःसीम से किस दिव्य प्रयोजन के लिए अवतीर्ण करवाया, सम्राज्ञि ! वह कौन-सा देव-कार्य है ? स्वप्न और कल्पना उसे जानने को उत्सुक हैं ।

ज्योत्स्ना—तुम्हारी उत्सुकता स्पृहणीय है । स्वप्न और कल्पने ! सुनो, इस बुद्धिवाद के भूलभुलइए में खोई हुई, जड़वाद, सापेक्ष-वाद, विकासवाद आदि अनेक वाद-विवादों की टेढ़ी-मेढ़ी पेचीली गलियों में भटकी हुई, नास्तिकता और संदेहवाद से पीड़ित, पशुओं के अनुकरण में लीन मानव-जाति का परित्राण करना है । उसकी आँखों के सामने जीवन का नवीन आदर्श, सौंदर्य का नवीन स्वप्न, स्नेह-सहानुभूति एवं समत्व का नवीन प्रकाश, सुख और शांति का नवीन स्वर्ग निर्माण करना है । उसे प्रेम के अधिक विस्तृत राजमार्ग पर चलाना है । धर्मांधता, रूढ़ि-प्रियता, प्रेत-पूजा, निर्मूल प्रथाओं एवं निरर्थक रीति-नीतियों के बंधनों से मुक्त करना है । उसकी बुद्धि को अधिक

सरल, हृदय को अधिक उज्ज्वल बनाना है। उसे जड़ता से चैतन्य की ओर, शरीर से आत्मा की ओर, रूप से भाव की ओर अग्रसर करना है।

स्वप्न-कल्पना—हमारा आना सार्थक हुआ।

ज्योत्स्ना—काव्य, संगीत, चित्र, शिल्प द्वारा मनुष्य के सम्मुख जीवन की उन्नत मानवी मूर्तियों को स्थापित करना है। इसके लिए कौन-सी राह सुगम होगी, कौन-सी पद्धति अचूक होगी, यह तुम लोगों को सोचना है। तुम दोनो मानव-जाति के कल्याण एवं मुक्ति का द्वार खोलने में मेरी सहायता करो। तुम्हारी अलौकिक शक्ति, वायवी प्रतिभा एवं मायावी आकर्षण के प्रभाव से यह कार्य अधिक सुगमता से संपन्न हो सकेगा, इसीलिए मैंने तुम्हारा आवाहन किया है।

कल्पना—सम्राज्ञी के उन्नत उदार हृदय का परिचय पाकर मैं कृतज्ञ हुई। समय-समय पर मानव-जाति के सम्मुख एक-से-एक ऊँचे आदर्श रक्खे गए, पर कोई भी आदर्श उसका संपूर्णतः परिष्कार नहीं कर सका। सदैव से मनुष्य में उसी तरह सद्-असद् प्रिय-अप्रिय का सम्मिश्रण रहा है, भले ही उसमें मात्राओं का न्यूनाधिक भेद रहा हो। विगत युगों का मनुष्य मनस्तत्त्व की विवेचना में अधिक सफल नहीं हुआ, इसीलिए मनोजगत् को अनिर्वचनीय, माया आदि अनेक नाम देकर, त्याग-विराग की सहायता से अपने को भुलावे में डाल, उसने जीवन को अज्ञान-जनित, दुःख-जनित समझ लिया। और, अपनी

आत्मा के लिए एक काल्पनिक स्वर्ग का इंद्रजाल निर्मित कर इस जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख के चिर आलिंगन-पाश में बँधी हुई जीवन की कठोर वास्तविकता से छुटकारा पाने के लिए उसने अनेक छाया-सत्यों पर अवलंबित एक मिथ्या आत्म-प्रवंचना का आश्रय ग्रहण किया। जिस असीम जीवन-शक्ति के अमर स्पर्शों से यह चेतना-शून्य मिट्टी अनेक रूप-रंगों में पुष्पित-पल्लवित हो, मृत्यु के अंधकार से चेतना के प्रकाश में आ, असंख्य जीवों एवं प्राणियों का सुंदर आकार-प्रकार धारण कर ऐश्वर्यमयी होती रहती है, उसके स्नेह-पाश से मुक्त होकर फिर से श्वास को वायु में, देह को मिट्टी में मिला देना ही उसका चरम लक्ष्य रहा! इस युग के मनुष्य का ध्यान भूत-प्रकृति की ओर गया है। संसार की भौतिक कठिनाइयों से परास्त होकर, उसके दुःखों से जर्जर होकर, मनुष्य की समस्त शक्ति इस समय केवल बाह्य प्रकृति के अत्याचारों से मुक्ति पाने की ओर लगी है। जिसके लिए उसने भूत-विज्ञान की सृष्टि की है। वह देश-काल एवं भौतिक शक्तियों को हस्तगत कर रहा है। यह भूत-प्रकृति ही उसके कष्टों का कारण है या कुछ और भी, इसका ठीक-ठीक निर्णय वह अभी नहीं कर पाया। मानव-जीवन के बाह्य क्षेत्रों एवं विभागों को संगठित एवं सीमित कर, अपने आंतरिक जीवन के लिए उदासीन होकर मनुष्य अपनी आत्मा के लिए नवीन कारा निर्मित कर रहा है।

स्वप्न—(अपनी विस्मय-पूर्ण दृष्टि एकत्रित कर) मनुष्य-जाति को सदैव से सौंदर्य-विभ्रम, प्रेम का स्वर्ग, भावनाओं का इंद्र-जाल और दारुण दुर्गम वास्तविकता का विस्मरण अथवा भुलावा पसंद रहा है। उसके सूक्ष्म वायवी हृदय-तत्त्व को एवं सीमा-हीन आकांक्षाओं को इसी में परितृप्ति मिलती है। मनुष्य सत्य की ओर आँख उठाने में डरता ही नहीं, एकदम नग्न-सत्य को देख सकने में असमर्थ भी है। सम्राज्ञी का मनोरथ सहज ही में सिद्ध हो जाय, यदि मनुष्य के लिए एक और भी अधिक उत्तेजक, मादक, मोहक, सूक्ष्म और मार्जित छलना की सृष्टि कर दी जाय; जिसके सौंदर्य-जाल पर मुग्ध होकर वह विलासिता, कदर्य पशुता, जड़वाद आदि की दासता से मुक्त हो सके। सम्राज्ञी की आज्ञा हो, तो मै अपनी दिव्य वायवी शक्तियों का परिचय दूँ, और मनुष्य की आँखों के सामने एक ऐसे अननुभूत ऐश्वर्य और स्वर्गीय सौंदर्य का अलौकिक इंद्रजाल उछाल दूँ कि वह इंद्रियों की देह से मुक्त होकर एक अभिनव सूक्ष्म शोभा के मात्राकाश में विचरण करने लगे।

ज्योत्स्ना— (आशान्वित होकर) उपायों के बारे में तर्क कर समय खोना ठीक नहीं; कोई भी उपाय हो, उन्नत और कल्याणकारी हो। समय पर और भी सुंदर उपाय पैदा होते रहते हैं। स्वप्न! मुझे तुम्हारी विश्व-मोहिनी शक्ति पर पूरा विश्वास है। मेरे विचारों के प्रचार एवं मनोरथों की पूर्ति

के लिए तुम जिन उपायों को उचित समझो, स्वतंत्रता-पूर्वक काम में लाओ। मैं तुम्हें पूर्ण अधिकार देती हूँ।

स्वप्न—(प्रफुल्लित होकर) सम्राज्ञी को विजय प्राप्त करने में विलंब नहीं होगा। मैं अभी कल्पना के साथ दिन-भर के काम-काज से श्रांत एवं निद्रा में निमग्न मनुष्य-जाति के मनोलोक में प्रवेश कर उसकी पलकों में नवीन स्वप्नों का चित्रपट बुनता हूँ; उसके मन को स्थूल वासनाओं के मोह से मुक्त कर अभिनव सौंदर्य, अभिनव सुख, अभिनव संस्कृति के आकाश में उठा देता हूँ। सम्राज्ञी यहाँ बैठे-बैठे मेरे विश्व-विदित सम्मोहन का जादू देखें। मै अपना मायावी चित्रपट आपके सामने खोले देता हूँ। पलकों में स्वप्नों की तरह, मानव-जाति का समस्त भविष्य, अनेक रहस्य-पूर्ण रूपों एवं छाया-छवियों में उसमें प्रतिबिंबित होता रहेगा। [स्वप्न आकाश की ओर संकेत करता है। ऊपर से एक स्वच्छ पट, परदे की तरह, यवनिका के सामने झूलने लगता है।]

ज्योत्स्ना—मै आनंद एवं उत्सुकता के साथ तुम्हारी दिव्य प्रतिभा का चमत्कार देखूँगी।

स्वप्न-कल्पना—तो आज्ञा दीजिए।

ज्योत्स्ना—अवश्य, तुम जाकर अपना कार्य आरंभ करो। शुभ कार्य शीघ्र हो जाने से और भी मोहक बन जाता है।

[सहसा प्रकाश मंद एवं धुँधला पड़ जाता है। तंद्रालोक का मृदुल, शिथिल, घन-अलस वायु चारोओर व्याप्त होने लगता है; जिसके मधुर

सुख-स्पर्शों से सब लोग झूम-झूमकर अपूर्व स्वप्नावस्था को प्राप्त हो जाते हैं। जलते हुए नक्षत्रों की तरह अनेक रंग-बिरंगे उज्ज्वल प्रकाश-मंडल आँखों को चकाचौंध कर दृश्य-पट पर चक्राकार घूमने लगते हैं; जिनसे धीरे-धीरे, कई आलोक-आकृतियाँ, मनोहर वर्णों की जगमगाहट में स्वरूप ग्रहण कर, परदे पर अवतरित होती हैं। जान पड़ता है, जैसे स्वर्ग का सौंदर्य, अपने ही उल्लास की अतिशयता से, अनेक आलोक-निर्झरों में फूट-फूट पड़ा हो। शनैः शनैः ये आकृतियाँ अधिक स्निग्ध एवं स्पष्ट आकार धारण करती हैं। नेपथ्य में बाजा बजता है; अनेक वाद्यों की मधुर मिश्रित झंकारों से समस्त वायु-मंडल, संगीत के श्वास-प्रश्वासों से मधुमय हो, गूँज उठता है।

स्वप्न और कल्पना सुप्त मनुष्य-जाति के मनोलोक में प्रवेश कर मनुष्यों में नवीन संस्कार एवं भावनाएँ जाग्रत् करते हैं। फलतः नवयुग का निर्माण करने के लिए, मनःस्वर्ग से देव-बाल और बालाएँ प्रकट होकर, अनेक मनोरम मानसी प्रतिमाओं का आकार-प्रकार ग्रहण कर चित्रपट पर अवतरित होती हैं। ये आकृतियाँ विविध प्रकार के दिव्य, रमणीय वस्त्रों से विभूषित हैं। कोई बारीक रेशमी रोओं से आच्छादित, कोई किसलयों की लालिमा एवं पुष्पों के पराग से परिवृत, कोई इंद्रधनुषी छायाभास से मंडित, कोई साँझ के विरल जलदों, रंगीन वाष्पों, अभ्रक के पत्रों एवं झिलमिलाती रश्मियों से वेष्टित हैं। कुछ छोटे-छोटे बालक एवं बालिकाएँ नग्नप्राय हैं; इनके कंधों से पैरों की ओर हलकी फेन की जालियाँ लिपटी हैं।

इन आकृतियों के पाँव फर्श को नहीं छूते, प्रत्युत, अपने ही हलकेपन के

कारण, संगीत की उठती-गिरती लहरों पर, ताल-लय-पूर्वक नृत्य करते एवं गाते हुए, ये ऊपर-नीचे तथा एक ओर से दूसरी ओर वाहित होते रहते हैं। इन सृजन और पालन-शक्तियों में कुछ के रूप व्यक्त, कुछ के अभी अर्द्धव्यक्त एवं अव्यक्त हैं। कुछ के नाम हैं, कुछ के नहीं; उनके लिए अभी शब्द नहीं बने। वे भविष्य में अपने आकार एवं नाम ग्रहण करेंगे।

यह सारा दृश्य चित्रपट पर अंकित आधुनिक टॉकी के ढंग का होगा।]

गीत-नृत्य

हम मनःस्वर्ग के अधिवासी,
जग-जीवन के शुभ-अभिलाषी !
नित विकसित, नित वर्धित, अर्चित
युग-युग के सुरगण अविनाशी !
हम भक्ति, शक्ति, हम क्षमा, त्याग,
हम सत्य, श्रेय, समताऽनुराग,
हम ऋद्धि-सिद्धि, साधना, धर्म,
हम श्री, समृद्धि, निष्काम कर्म !
(कुछ श्लक्ष्ण स्वर में) हम नाम-हीन, अस्फुट, नवीन,
छवि में विलीन, अति रूप क्षीण !
हम करुणा, ममता, स्नेह, प्रीति,
हम विद्या, प्रतिमा, कांति, कीर्ति !
हम महिमा, सुखमा, ज्ञान, ध्यान,
हम चित्र, नृत्य, हम काव्य, गान।

लज्जा - सज्जा, आशाऽभिलाष,
क्रीड़ा, विनोद, हम मनोल्लास !
नेपथ्य-लोक में चिर अदृश्य,
नव-युग - अभिनायक, उद्भासी !
हम है प्रकाश के अमर-पुत्र,
उर - उरवासी, मंगल - आशी !

[गीत-नृत्य बंद हो जाने पर, परदे पर प्रतिफलित छाया-छवियाँ भाव-भंगी-पूर्वक मूक-नाट्य एवं भाव-नृत्य करती हैं।]

ज्योत्स्ना—(स्वप्नावेश से उठकर) धन्य है स्वप्न के उर्वर हृदय और कल्पना की सूक्ष्म सूझ को ! मैं इन्हीं सृजन और पालन-शक्तियों का प्रादुर्भाव एवं विकास चाहती हूँ ! इनके सम्मोहन में बँधकर मनुष्य-जाति अपनी तामसी वृत्तियों की जघन्यता एवं कुरूपता से अवश्य मुक्त हो जाएगी। इस पृथ्वी पर स्वर्ग की विभूतियाँ अभिसार करने लगेंगी।

सुरभि—सम्राज्ञी का स्वप्न सफल होगा, इसमें मुझे कुछ भी संदेह नहीं।

पवन—इन स्वर्गीय शक्तियों का आविर्भाव संसार की मनो-भूमि पर अवश्य हो गया है ; पर अब यह देखना है कि मनुष्य की मिट्टी का अंधकार इन प्रकाश-पुत्रों के रूप-रंगों को कहाँ तक ग्रहण कर सकता है। संसार के सैकत-तट पर इन देव-दूतों के दिव्य पद-चिह्न कब तक ठहर सकते हैं। पाषाण को प्रतिमा का स्वरूप देकर उसमें जीवन के हाव-भाव भर देना

सरल है, किंतु स्वप्नों के वायवी सौंदर्य को स्थूल वास्तविकता के पाश में बाँध देना असंभव नहीं, तो दुष्कर अवश्य है। सम्राज्ञी की कृपा से मुझे इस पृथ्वी पर अनेक नवीन युगों की ध्वजाएँ फहराने का भार सौंपा गया है, मैंने पशु-प्रवृत्तियों की तामसी संतानों को सहज में परास्त होते नहीं देखा। इस भू-लोक के कुछ दार्शनिक तो तमोगुण के तिरोभाव को असंभव मानते हैं, और उसे सृष्टि के विकास के लिए एक आवश्यक उपादान समझते हैं।

सुरभि—फिर भी न-जाने हृदय क्यों ऐसा चाहता है कि संसार से यह तामसी विनाश उठ जाय, और यह सृष्टि प्रेम की पलकों में, अपने ही स्वरूप पर मुग्ध, सौंदर्य का स्वप्न बन जाय!

[छायाकृतियाँ मूक-अभिनय समाप्त कर धीरे-धीरे अंतर्धान हो जाती हैं। दृश्य-पट पर आसमानी प्रकाश, आकाश की तरह, फैल जाता है, और उसमें पुंज-पुंज प्रकाश-मंडलों से अवतरित हो, सौरचक्र के विविध ग्रह, उपग्रह एवं नक्षत्र, उज्ज्वल आलोकमयी मानवाकृतियाँ धारण कर सूर्य के चारोओर घूमने लगते हैं।]

सुरभि—वह देखिए, सम्राज्ञि! नेत्रों को चकाचौंध करनेवाला सौरमंडल का जाज्वल्यमान दृश्य!

[नेपथ्य में गीत-वाद्य; प्रकाश-मूर्तियाँ ताल-लय के अनुरूप, नृत्य-पूर्वक, सूर्य की परिक्रमा करती हुई गाती हैं।]

गीत

चिन्मय प्रकाश से विश्व उदय,
चिन्मय प्रकाश में विकसित, लय!

रवि, शशि, ग्रह, उपग्रह तारा-चय,
अग-जग प्रकाशमय हैं निश्चय !

चित्-शक्ति एक रे जगज्जननि,
धृत ज्योति-योनि में लोकाशय,
पलते उर में नव जगत सतत
होते जग-जीर्ण उदर में क्षय !

चिर महानंद के पुलकों से
झर-झर नित अगणित लोक-निचय,
नाचते शून्य में समुल्लसित
बन शत-शत सौर चक्र निर्भय !

अविराम प्रेम-परिणय अग-जग,
परिणीत उभय चिन्मय - मृन्मय,
जड़ चेतन, चेतन जड़ बन-बन
रचते चिर सृजन-प्रलय अभिनय !

उन्मुक्त प्रेम की बाहों में
सुख - दुख, सदसत् होते तन्मय,
वह विश्वात्मा रे अग-जग का
वह अखिल चराचर का समुदय !

[शनैःशनैः सौरमंडल का दृश्य क्षीण होकर अदृश्य हो जाता है। उसके स्थान पर शून्य में घूमता हुआ भूगोल का दृश्य सामने आता है। जिससे सूर्यातप में, समुद्र की नील तरंगों पर नृत्य करती हुई, अनंत-यौवना, मातृ-स्वरूपा पृथ्वी अवतीर्ण होती है। नील-अनिल का फहरात

हुआ रेशमी दुकूल; विशाल पयोधरों पर हरीतिमा की कंचुकी; अंगों में अनेक मणि-रत्नालंकार; गले में लंबी-लंबी उज्ज्वल मोतियों की लड़ियाँ; प्रशांत प्रसन्न आनन; शिर पर बालेंदु से मंडित रजत-हिम-किरीट; दाएँ हाथ में धान की सुनहली बालियाँ, बाएँ हाथ में सलिल-सुधा से पूर्ण स्वर्ण-पात्र। नेपथ्य में वादन-समारोह-पूर्वक नाट्य-गान।]

गीत

धन्य मातृ, धन्य धातृ,
धन्य पुत्र सचराचर!
निखिल शस्य, पुष्प-निकर,
कोटि कीट, खग, पशु, नर,
विविध जाति, वंश प्रवर
पुण्य-धूलि-जात अमर!
प्रचुर अन्न, बहु जल-फल,
सुरँग वसन, भूषण कल,
रजत, स्वर्ण, रत्न-अचल,
धरणि-धाम सुर-सुखकर!
कलरव, क्रीड़ा, विनोद,
मुखरित नित अवनि-गोद,
प्रिय जग-जीवन-प्रमोद
कुसुमित बन, जनपथ, घर!
रबि-शशि-स्मित दिशि मंडल,

नील - सिंधु चल - मेखल,
हिमगिरि, शत सरित चपल,
तड़ित - चकित नभ सुंदर !

रजत दिवस, स्वर्ण प्रात,
तारा - शशि-खचित रात,
मधुर मरुत मलय - जात
षड्ऋतु - नर्तन मनहर !

पत्नी - पति, भगिनि-भ्रात,
दुहिता - सुत, पिता - मात,
स्नेह - बद्ध सकल तात,
पुरजन, परिजन, सहचर !

सर्वदेश, सर्वकाल,
धर्म जाति वर्ण जाल,
हिलमिल सब हों विशाल,
एक हृदय, अगणित स्वर !

[पृथ्वी के तिरोहित हो जाने पर, परदे पर एक रमणीक उपवन का दृश्य प्रतिफलित होता है। जिसमें भाँति-भाँति के फूल एवं फलों के वृक्ष शोभा-भार से लदे हुए हैं। शाखाओं पर तरह-तरह के पक्षी कुदक-कुदक-कर कलरव कर रहे हैं। इधर-उधर हिरनों और पालतू पशुओं के निर्भीक झुंड विचर रहे हैं। बीच-बीच में छोटे-छोटे सुंदर गृह एवं पट-मंडप बने हैं। मनोहर वेशों में सुंदर स्वस्थ बालक-बालिकाओं और युवक-युवतियों के गिरोह उपवन में टहलते, एवं कुंज-वितानों में क्रीड़ा-कौतुक,

आमोद-प्रमोद करते, फूल चुनते, हार गूँथते, फलों का आस्वादन करते दृष्टिगोचर होते हैं।]

ज्योत्स्ना—यह शांत, शिष्ट, सुख-संपन्न नवीन मनुष्य-जाति का दृश्य है। यही मानव पृथ्वी के ऐश्वर्य, पूर्ण चेतना के उज्ज्वल प्रदीप, जीवन-वसंत के मानवी कलि-कुसुम हैं।

(युवक-युवतीगण नृत्य-वादन-पूर्वक गाते हैं)

गीत

न्योछावर स्वर्ग इसी भू पर,
देवता यही मानव शोभन,
अविराम प्रेम की बाँहों में
है मुक्ति यही जीवन - बंधन !

है रे न दिशावधि का मानव,
वह चिर पुराण, वह चिर नूतन,
मानव के है सब जाति, वर्ण,
सब धर्म, ज्ञान, संस्कृति, बल, धन !

मृन्मय-प्रदीप में दीपित हम
शाश्वत प्रकाश की शिखा सुषम,
हम एक ज्योति के दीप अखिल,
ज्योतित जिनसे जग का आँगन !

हम पृथ्वी की प्रिय तारावलि,
जीवन - वसंत के मुकुल, सुमन,

सुरभित मुख से गृह-गृह, उपवन
उर-उर में पूर्ण प्रेम-मधु-घन !

[धीरे-धीरे उपवन का दृश्य हट जाता है, और उसका एक भाग स्पष्ट एवं वृहद् आकार में परदे पर झूलने लगता है।

मौलसिरी की छाया में हरी-भरी दूर्वावृत पृथ्वी पर जॉर्ज नामक एक युवक बैठा हुआ उपवन की शोभा देख रहा है; उसकी जाँघ पर कुहनी के बल नवयुवती यमुना लेटी है। जॉर्ज फ़ॉन.रंग के पौपलिन की कमीज़ और जाँघिया पहने है। पाँवों में उसी रंग के शमी हूज हैं। यमुना हल्की आसमानी रंग की साड़ी, उससे गहरे रंग का जंपर पहने है। पाँवों में मख़मली जूती हैं।]

सुरभि—वह देखिए, सम्राज्ञि ! नवीन मानव-जाति का एक और दृश्य ! जान पड़ता है, इन प्रकाश-पुत्रों ने विश्व की मनोभूमि पर अवतीर्ण होते ही अपने दिव्य प्रभाव से मनुष्य-जाति की सभ्यता में नवीन स्वर्ण युग का समारंभ कर दिया !

ज्योत्स्ना—अब हम लोग चुपचाप रहकर, अनिमेष दृष्टि से नवीन युग की मानव-जाति के दृश्यों का अनुशीलन करें। देखें, ये लोग उन सूक्ष्म सृजन शक्तियों की सात्त्विक भावनाओं एवं स्वप्न और कल्पना के वायवी सौंदर्य को किसी संतोष-जनक मात्रा तक अपने जीवन में अनुवादित कर सके हैं या नहीं।

[छायाकृतियाँ वार्तालाप करती हैं।]

यमुना—(अपने आप) जॉर्ज, जॉर्ज, जॉर्ज ! (जॉर्ज से)

कारावास भुगत रहा थां। तुम्हारे पिता ने ही उन्हें क़ैद किया था। मा की मृत्यु के साथ ही मैं देश जाति और धर्म की कारा से मुक्ति पा गई! सलीम के प्रेम की धारा ने मेरे हृदय को चारोओर से टापू की तरह घेरकर मेरा संबंध समस्त प्राचीन रूढ़ियों के जगत् से विच्छिन्न कर दिया। हमारे विद्यार्थी-जीवन में ही वह प्रेम का स्रोत उद्गत हो गया था। सलीम की अकाल मृत्यु हो जाने पर मुझे जान पड़ा कि मेरे चारोओर बालू की सूनी बेला ही शेष रह गई है! (आह भरती है) सलीम का वह सुंदर मुख अब भी मेरी आँखों में घूमने लगता है! (उदास हो जाती है)

जॉर्ज—(उसके गाल पर थपकी देकर) मृत्यु को मुर्दों के लिए ही रहने दो, यमुने! (यमुना का जी बहलाने के लिए गुनगुनाता है)

जीवन की लहर-लहर से
हँस खेल - खेल रे नाविक!
जीवन के अंतस्तल में
नित बूड़-बूड़ रे भाविक!

यमुना—(अपने को सँभालकर) हाँ, तो उन्हीं दिनों तुम, न-जाने, उस बालू में भटकते हुए प्यासे हिरन की तरह कहाँ से मेरे पास पहुँच गए; तुमसे मिलने पर मेरे हृदय में जीवन की नवीन बाढ़ उमंगें लेने लगी। (हँसती हुई) और मैंने भी तुम्हारे पिता की लोहे की बेड़ियों का बदला तुम्हें सोने की बेड़ियों में बाँधकर लेना निश्चय कर लिया!

जॉर्ज—(यमुना के गाल पर हलकी-सी चपत मारकर) ऊँह, उन पुरानी स्मृतियों के प्रेतों को आँखों के सामने मत आने दो ! पिछले युग के संकीर्ण आकाश में जो जाति-विद्रोह का घना कुहासा छाया हुआ था, वह अब लुप्त हो गया ! मानव-प्रेम के नवीन प्रकाश में राष्ट्रीयता, अंतर्राष्ट्रीयता, जाति और वर्ण के भूत-प्रेत सदैव के लिए तिरोहित हो गए है। इस समय देश-जाति के बंधनों से मुक्त मनुष्य केवल मनुष्य है। स्त्री-पुरुष का संबंध भी अब पाँवों की बेड़ी या जीवन का बंधन नहीं रहा। वह एक स्वाभाविक आत्मसमर्पण और जीवन की मुक्ति बन गया है। निरंतर साहचर्य, परस्पर सद्भाव एवं सह-शिक्षा के कारण आधुनिक युवक-युवती का प्रेम देह की दुर्बलता न रहकर हृदय का बल एवं मन का संयम बन गया है।

[सात साल के, मातृ-पितृ-हीन, हँसमुख बालक, मुहम्मद का हाथ पकड़े, मलमल की गुलाबी साड़ी पहने, गुलाब का फूल सूँघते, विधवा युवती 'रोज़' का प्रवेश; जॉर्ज और यमुना उसका स्वागत करते हैं। यमुना मुहम्मद की बाँहें पकड़कर उसे ज़ोर से हिलाती है; बालक खिलखिला-कर हँस पड़ता है। सब लोग बैठते हैं।]

यमुना—प्रसन्नता ही बच्चों का स्वास्थ्य और सौंदर्य है। स्नेह के हाथों की देख-रेख बच्चों के सम्यक् और स्वाभाविक विकास के लिए कितनी आवश्यक है, यह मुझे तुम्हारे मुहम्मद को देखने से मालूम हुआ, रोज़ ! वास्तव में, प्रेम का प्रकाश ही प्रसन्नता है !

रोज़—(मुहम्मद को गोद में बिठाकर) दो साल हुए, जब अतुल मुझे छोड़कर संसार से चल बसा, तो मुझे यह मुहम्मद मिल गया। इसके मा-बाप हमारे पड़ोसी थे। उनकी मृत्यु हो जाने पर इसे मैंने ले लिया। (फूल सूँघती है)

मुहम्मद—(हाथ बढ़ाकर) यह गुलाब का फूल हम लेंगे, मम्मी!

रोज़—लो, (फूल देती है) जाओ, दौड़कर सामने की झाड़ी से अपने लिए और फूल तोड़ लाओ। देखना, हाथ में काँटा न लगने पाए।

मुहम्मद—हाथ में काँटा क्यों लगेगा? मैं नहीं लगने दूँगा, मम्मी!

[मुहम्मद प्रसन्नता से कुदकता हुआ फूल लेने जाता है।]

यमुना—तुम तो अभी बिलकुल बच्ची हो, रोज़! क्या उम्र है?

रोज़—बाईसवाँ साल होगा।

जॉर्ज—अकेले जी लग जाता है? प्रकाश तो आपको बहुत चाहता है, आपकी सौंदर्य-प्रियता और मुक्त-हृदय की बड़ी प्रशंसा करता था।

रोज़—हाँ, बड़े ही मधुर स्वभाव के आदमी हैं। आजकल संध्या को प्रायः नित्य ही मेरे यहाँ आ जाते हैं। वह दूसरी शादी करना चाहते हैं। मैं आयशा को उनसे मिलाऊँगी। अगर मैं उन्हें ठीक-ठीक समझ सकी हूँ, तो आयशा के साथ वह बहुत सुखी होंगे।

यमुना—और तुम?

रोज—(हँसती है) मेरा तो शादी करने को अब जी नहीं करता, बहन! अतुल का प्रभाव मेरे हृदय में इतना अधिक है कि पूर्व-प्रेम की स्मृति मेरे हृदय में काफ़ी आनंद सजीवता और स्फूर्ति पैदा करती रहती है।

यमुना—तुम छुटपन से ही ऐसी भाव-प्रवण रही हो।

रोज—और फिर बहन! समय भी नहीं मिलता। बहुत-सा समय अस्पताल में बीमारों को नर्स करने में चला जाता है, उसका मुझे बेहद शौक़ है। फिर पड़ोसियों के बच्चे आ जाते हैं, उनके छोटे-मोटे काम रहते हैं। मुहम्मद तो उन सबका राजा बन बैठा है, इसे वे छोड़ते ही नहीं। (मुहम्मद को आते देख-कर) वह देखो, ढेर-के-ढेर फूल तोड़ लाया है।

जॉर्ज—मानव-स्वभाव से आदर्शों की तुलना करने पर, जान पड़ता है कि आदर्शों को सबके लिए बंधन-स्वरूप बना देने पर वे अपना मूल्य खो बैठते हैं। उनसे, स्वभाव का विकास होने के बदले, ह्रास होने लगता है। हमारे युग की एक विशेषता यह भी है कि आदर्श स्वभाव के अनुरूप चलते हैं। तुम और रोज इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हो, यमुने!

[छाती और बाँहों के बीच ढेर-ढेर फूलों को दबाए मुहम्मद का प्रवेश। मुहम्मद फूलों को यमुना के पाँवों के पास डाल देता है। रोज़ उसके जाँघिए और कमीज़ के बटन दुरुस्त करती है। यमुना फूलों के दो

छोटे-छोटे गुलदस्ते बना देती है। मुहम्मद बचे हुए फूलों को नोच-नोच-कर बिखरा देता है।]

रोज़—(हँसकर) इसी तरह बिगाड़-बिगाड़कर बच्चे बनाना सीखते हैं।

[नेपथ्य से संगीत-ध्वनि सुनाई पड़ती है। भिन्न-भिन्न देशों के बाल-वृद्ध, युवक-युवतीगण, सुरंग सुरुचि-पूर्ण वेशों में, पुष्पों से एक दूसरे को अलंकृत करते, आमोद-प्रमोद-पूर्वक वसंतोत्सव मनाते हुए एक ओर से प्रवेश कर गीत-नृत्य करते हैं। यमुना, रोज़, जॉर्ज और मुहम्मद भी उनमें मिल जाते हैं।]

गीत-नृत्य

जग-जीवन नित नव-नव,
प्रतिदिन, प्रतिक्षण उत्सव!

जीवन शाश्वत बसंत,
अगणित कलि कुसुम वृंत,
सौरभ सुख श्री अनंत,
पल-पल नव प्रलय प्रभव!

रवि शशि ग्रह चिर हर्षित
जल स्थल, दिशि समुल्लसित,
निखिल कुसुम कलि सस्मित,
मुदित सकल हों मानव!

आशा, इच्छानुराग,
हो प्रतीति, शक्ति, त्याग,

उर - उर में प्रेम-आग,

प्रेम स्वर्ग-मर्त्य-विभव !

[सबका गाते-गाते प्रस्थान।]

[वयोनुकूल, अचपल रंगों के वस्त्र पहने, सुंदर सुधीर वेशों में कुछ प्रौढ़ वयस्क विद्वान् और विदुषियों का टहलते एवं, वाद-विवाद करते हुए प्रवेश।]

वेदव्रत—प्रत्येक युग के सामने एक गूढ़ प्रश्न रहता है, जिस ओर उस युग की समस्त ज्ञान-विज्ञान की नाड़ियाँ प्रधावित रहती हैं। पिछला युग भी अपवाद नहीं था। अपने समय की गंभीर समस्याओं को सुलझाकर ही प्रत्येक युग का विजेता मनुष्य एक पग आगे उन्नति कर अपने पराक्रम से अर्जित नवीन विभवों का उपभोग करता है। जिस प्रकार पूर्व की प्राचीन सभ्यता अपने एकांगी आध्यात्मिक तत्त्वालोचन के दुष्परिणाम-स्वरूप, काल्पनिक मुक्ति के फेर में फँसकर, नाम-रूप पर स्थित जन-समाज की ऐहिक उन्नति के लिए बाधक हुई, एवं जीवन के प्रति मनुष्य के हृदय में विरक्ति पैदा कर गई, उसी प्रकार अभी पिछली पश्चिमी सभ्यता एकांगी जड़वाद के दुष्परिणाम-स्वरूप, विकासवाद, प्रकृतिवाद एवं जड़विज्ञान के फेर में पड़कर, नाम-रूप के संसार के प्रति अतिशय आसक्ति पैदा कर, अर्थ-लोलुपता, इंद्रिय-प्रियता, पशु-बल एवं विनाश के दलदल में डूब गई ! एक संकलनात्मक बुद्धि का दुष्परिणाम था, तो दूसरा विश्लेषणात्मक बुद्धि का दुष्फल ! उन दोनो सभ्यताओं के संघर्ष से ही हमारे नवीन युग का

जन्म हुआ। पाश्चात्य जड़वाद की मांसल प्रतिमा में पूर्व के अध्यात्म-प्रकाश की आत्मा भर एवं अध्यात्मवाद के अस्थि-पंजर में भूत या जड़विज्ञान के रूप-रंग भर हमने नवीन युग की सापेक्षतः परिपूर्ण मूर्ति का निर्माण किया। उसी पूर्ण मूर्ति के विविध अंग-स्वरूप पिछले युग के अनेक वाद-विवाद यथोचित रूप ग्रहण कर सके हैं।

रावर्ट—इसीलिए इस युग का मनुष्य न पूर्व का रह गया है, न पश्चिम का; पूर्व और पश्चिम दोनो ही मनुष्य के बन गए हैं।

सुलेमान—(मनोवैज्ञानिक) आप बहुत ठीक कहते हैं, मिस्टर वेदव्रत! किंतु पिछले युग के तानों-बानों को सुलझाने एवं नवीन युग का पट निर्माण करने में मनोविज्ञान के विकास ने सबसे अधिक मदद दी, हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए। अज्ञातकाल से जन-समाज के मनःप्रवाह में बहते हुए, कुल-गोत्र-हीन निर्जीव विचारों के कर्दम ने जमा होकर, मानव-जीवन के स्रोत को शत-शत शीर्ण धाराओं में विभक्त कर गति-हीन एवं पंगु बना दिया था! पिछले युग के मनुष्य के हृदय पर भूतकाल के आकर्षण का इतना भयंकर भार रहा है कि उसकी समस्त विकास-प्रिय प्रवृत्तियाँ अधोमुखी हो गई थीं। प्राचीन निर्मूल सभ्यताओं की इतिहास-भूमि से उखड़े हुए, निरर्थक, जीर्ण-शीर्ण आदर्शों, विचारों एवं रूढ़ियों के शुष्क ठूँठ, अपने ही अपरिचय के अंधकार में, किमाकार भूत-प्रेतों एवं नराकृति कंकालों की तरह सिर उठाकर, अपने

अस्पष्ट, अर्थ-हीन, मूक इंगितों से मानव-समाज को भयभीत और कर्त्तव्य-विमूढ़ बनाते रहे। पिछले युग का इतिहास, एक प्रकार से, उन्हीं प्राचीन लुप्तप्राय संस्कृतियों के मरणोन्मुख प्रेतों से मानव-मुक्ति के विकट युद्ध का इतिहास है! विचारों के ऐतिहासिक अनुशीलन एवं मनोवैज्ञानिक विवेचन से हमें कम-से-कम यह तो प्रत्यक्ष हो गया कि संसार की भिन्न-भिन्न सभ्यताओं एवं संस्कृतियों के स्वर्गवासी देवी-देवता एवं नरकवासी राक्षस-गण, जो हमारे आधुनिक युग की किशोरावस्था में मनुष्यों पर आतंक जमाते रहे हैं, केवल मनुष्य के मनोजगत् में व्याप्त सद् एवं असद् प्रवृत्तियों के कल्पित स्वरूप एवं चित्र-मात्र हैं। कला की दृष्टि से भले ही उनका कुछ मूल्य हो! हमारे सत्य की उपासना ने अब अपना स्वरूप बदल दिया है। हम यह जान गए हैं कि जो सत्य मानव-जीवन एवं मानव-जाति के लिए कल्याणकारी नहीं, जो उसकी शारीरिक, मानसिक, आत्मिक एवं लौकिक उन्नति का समग्र रूप से पोषक नहीं, वह सत्य मानवी सत्य नहीं हो सकता। फलतः हम जन-समाज के कल्याण की दृष्टि से अपनी प्रवृत्तियों का अच्छा-बुरा मूल्य आँक सकते हैं। जिस प्रकार समस्त जीवन सत्य पर अवलंबित है, उसी प्रकार समस्त सत्य जीवन पर। सत्य जीवन के बाहर नहीं मिल सकता।

वेदव्रत—इसमें क्या संदेह, यह अन्योन्याश्रय का भाव समस्त ब्रह्मांड में व्याप्त है।

मेरी—मै भी आपसे सहमत हूँ, सुलेमान भाई ! त्याग, विराग, अहिंसा, क्षमा, दया आदि अनेक आदर्शों को धार्मिक प्रवृत्ति के लोग पहले से निरपेक्ष सत्य समझते आए हैं। इसलिए उनका धर्म मनुष्यों का धर्म न बनकर आदर्शों का धर्म बन गया। अपने आदर्शों के लिए उनकी अपार सहिष्णुता देखकर हम आश्चर्य-चकित रह जाते हैं ! जीवन की संपूर्णता से मानव-जीवन को विच्छिन्न कर हम ऊँचे-से-ऊँचे आदर्श की ओर भी अग्रसर हों, तो वह अंत में अर्थ-शून्य एवं सार-हीन हो जाता है। मानव-जीवन का सत्य सापेक्ष है। त्याग और भोग एक दूसरे को सार्थक करते हैं। इसी समत्व पर सत्य अवलंबित है।

हेनरी—मैं आप लोगों से मतभेद रखता हूँ। जीवन सत्य पर अवश्य अवलंबित है, पर सत्य अपने ही में स्थित, निरवलंब, निराधार है, इसीलिए वह सत्य है। हाँ, लौकिक सत्य एवं लोक-जीवन अवश्य एक दूसरे के आश्रित हैं। एक बात और है, नवीन आदर्शों का जन्म होने एवं व्यवहार में आने से पहले, अथवा लोक-समाज का बाह्य विकास होने के पूर्व ही उसकी मानसिक अवस्था में एक आंतरिक परिवर्तन पैदा हो जाता है। इसे चाहे आप सूक्ष्म परिवर्तन कहिए, चाहे अंतर्गत, विश्वगत या आध्यात्मिक परिवर्तन कहिए। लेकिन मनोजगत् या मनस्तत्त्व स्वयं ही एक सूक्ष्म आंतरिक विकास के कारण बदल जाता है, इसमें संदेह नहीं।

सुलेमान—(रोककर) क्या वह बदलाव सदैव विकास ही के लिए होता है ?

हेनरी—समष्टि-रूप में, हाँ;—लेकिन इस प्रश्न को इस समय छोड़ दीजिए। क्योंकि जिस अध्यात्म-मनोवैज्ञानिक (meta-psychological) दृष्टि-कोण का इस युग में विकास होने लगा है, मैं इस समय केवल उसी को लक्ष्य करके बातें कर रहा हूँ। पिछले युग का मनोविज्ञान मन की सीमाओं में बँधे रहने के कारण अधूरा था। एक आध्यात्मिक नियम के वशवर्ती होने के कारण मनस्तत्त्व स्वयं ही परिवर्तनशील है, उसका स्वभाव (Quality) ही बदल सकता है, इस तथ्य का आभास पा लेने से, आधुनिक युग ने मन की आधिभौतिक सीमाएँ तोड़कर उसे एक विस्तृत प्रकाश-पूर्ण आधिदैविक भूमि पर रख दिया है। यह उसकी सर्वोपरि विजय है।

सुलेमान—आप दार्शनिक हैं, इन जटिल पहेलियों को आप ही समझ सकते हैं।

हेनरी—(नम्रता-पूर्वक) विषय दुरूह होने के कारण मेरी बातें कठिन हो गईं, मुझे खेद है। राग-विराग, त्याग-भोग के बारे में भी जो कुछ आप कह रहे थे, वह एकांगी सत्य था, क्योंकि सभी वृत्तियाँ, समस्त प्राकृतिक विकार अक्षय हैं, उनका एक सार्वकालिक मूल्य भी है। प्रवृत्ति, निवृत्ति मार्ग (Positive, negative attitudes) सदैव ही रहेंगे; दोनों ही अपने-अपने स्थान पर सार्थक हैं।

पहला भोक्ता के लिए, दूसरा द्रष्टा के लिए, जिसे ज्ञान प्राप्त करना है।

वेदव्रत—आपने जीवन के दोनो छोरों को अपने अध्यात्म-ज्ञान की पुल से जोड़ दिया है। चलिए, आगे चलकर तालाब के किनारे बेंच पर बैठें।

हेनरी—चलिए।

[सबका प्रस्थान।]

[अन्न-वस्त्र की चिंता से मुक्त, स्वस्थ, साक्षर, सिद्ध कृषकों, श्रम-जीवियों एवं व्यवसायियों के नर-नारियों एवं बालक-बालिकाओं का चटकीले रंगों के वस्त्र पहने, गीत, वाद्य, नृत्य, व्यंग्य, विनोद-पूर्वक वसंतोत्सव मनाते हुए धीरे-धीरे प्रवेश।]

गीत

गूँजे जय-ध्वनि से आसमान—
'सब मानव मानव हैं समान!'

निज कौशल, मति, इच्छानुकूल
सब कर्म निरत हों भेद भूल,
बंधुत्व-भाव ही विश्व-मूल,
सब एक राष्ट्र के उपादान! गूँजे०

लोकोन्नति का हो खुला द्वार,
पथ-दर्शक सबका सदाचार,
हों मुक्त कर्म, वाणी, विचार,
हों श्रेय-प्रेय रे एक प्राण! गूँजे०

हो सहज स्नेह-संस्कृत स्वभाव,
उर में उमंग, उत्साह, चाव,
धन, अन्न, वस्त्र का मुक्त स्राव,
हो एक विश्व-जीवन महान ! गूँजे०
सब श्रम, उद्यम गौरव-प्रधान,
सब कर्मों का हो उचित मान,
सब कंठों में हो एक गान—
'मानव मानव सब हैं समान !' गूँजे०
(गाते-गाते प्रस्थान)

[गरिमा-पूर्ण वेशों में कुछ क्षांत, स्निग्ध, शारदाकृति, शासन और शिक्षा-विभाग के अधिकारियों का विविध विषयों की चर्चा करते हुए प्रवेश ।]

मि० मेरिस—सभ्यता के विकास के साथ ही मनुष्य सदैव से नियंत्रण एवं शासन का पक्षपाती रहा है। राजनीतिक बंधन ही नहीं, नैतिक, सामाजिक, मानसिक, कायिक अनेक शृंखलाओं में अपने को बाँधकर मनुष्य ने मिथ्या के अनियमों एवं स्वभाव के विद्रोह से मुक्ति पाई है। लोक-समाज की वह आदर्श स्थिति, जिसमें उसे शासन की आवश्यकता न रहे, ऐतिहासिक कल्पना-मात्र है। इसका यही अर्थ हो सकता है कि या तो मानव-समाज का चरम विकास हो गया है, या उसका आगे को विकास होना रुक गया है। चूँकि निरंतर विकास ही का नाम जीवन है, दोनो ही परिणाम असंभव हैं।

मि० माथुर—समस्त विश्व सत्य और सदाचार के नियमों से शासित है, मनुष्य अपवाद होकर नहीं रह सकता। विगत युग में शासक और शासितों में सामंजस्य नहीं रहा, क्योंकि वह सत्य और सदाचार का नहीं, शक्ति और स्वत्वाधिकार के शासन का युग था। राज्यतंत्र, प्रजातंत्र, लोकतंत्र आदि, सभी प्रकार के शासन, सत्य एवं सदाचार के अभाव से, केंद्र-भ्रष्ट एवं लक्ष्य-हीन हो गए थे। जिस सामंजस्य की लय में समग्र सौरचक्र नृत्य करता है, उससे विद्रोह कर, मानो समस्त ग्रह, उपग्रह और नक्षत्र, अपनी-अपनी शक्ति एवं स्वत्वों को ध्येय बना भिन्न-भिन्न वर्गों में विभक्त हो, एक दूसरे पर विजय पाने की लालसा के प्रलयावर्त में, तांडव-नृत्य करने लगे थे। इसीलिए राज्य-वाद, शक्ति-उन्मद, पदासक्त शासनाधिकारियों के रूप में विकृत हो गया।

मि० नीलरतन—और यही दशा प्रजातंत्र और लोकतंत्रों की हुई। जिस प्रकार समुद्र की मुखर लहरें, असंख्य स्वरूप एवं स्वरों की स्वतंत्रता पा लेने पर भी, समुद्र के अंतस्तल की अनंत शांति को वाणी नहीं दे सकतीं, उसी प्रकार अपने ही को समझने में अक्षम, अशिक्षा-पीड़ित, भिन्न-भिन्न स्वार्थों के झोंकों के वश उठते, गिरते, मिलते, बिछुड़ते लोक-समूह भी शांति के स्थापन एवं अपने ही एकांत-श्रेय के संरक्षण में असफल प्रमाणित हुए। बाजे के समस्त परदों को एक साथ ही दबा देने से, या कुछ चुने-चुने परदों पर बेसिलसिले हाथ फेर देने से

ही राग का जन्म नहीं होता; राग के अनुरूप परदों को बजाने से ही राग का स्वरूप प्रकट हो सकता है। इसी प्रकार चाहे राज्यतंत्र हों अथवा प्रजातंत्र, मानव-सत्य के नियमों से परिचालित होने पर ही वे मनुष्य-जाति की सुख-समृद्धि के पोषक बन सकते हैं। सच तो यह है, मनुष्य को शासन-पद्धति अथवा उसके नियमों का आविष्कार नहीं करना है, उसे केवल सत्य की जिस शासन-प्रणाली से समस्त विश्व चलता है, उसका अन्वेषण कर, उसे पहचान भर लेना है। गत युग अपने को बाह्य सामंजस्य देने की चेष्टा करता रहा, जब कि उसे एकमात्र आंतरिक सामंजस्य स्थापित करने की आवश्यकता थी।

मि० सुबोध—शायद वह आंतरिक विरोधों को एकदम मिटा सकने में तब असमर्थ था, उसके लिए समय की प्रतीक्षा आवश्यक थी।

मि० खेर—उस युग का सबसे विकट परिणाम समाजवाद का वह स्वरूप था, जो मनुष्य को समाज के गज के बौने गिरहों एवं इंचों में सीमित कर देना चाहता था। मानव-आत्मा की वह प्रवृत्ति जो अपनी स्वार्थ की गिरह खोलकर, समाज के बौने गज से आगे बढ़कर, मानव-सत्य का माप-दंड बन जाना चाहती है, उसके विकास के लिए समाजवाद में उपयुक्त साधन एवं सुविधाओं का एकदम अभाव था! जिस प्रकार व्यक्ति समाज का मान नहीं हो सका, उसी प्रकार समाज भी व्यक्ति का मान नहीं बन सकता। हमारे सामाजिक एवं वैयक्तिक आदर्शों का

वैषम्य एवं विभिन्नता इसका ज्वलंत प्रमाण है। समाज एवं व्यक्ति में सामंजस्य स्थापित करना ही होगा।

सुश्री कमला—हमारे युग में शासकों का जनता के प्रति जो सेवकों का-सा भाव है, यह लोक-मनोविज्ञान की चरम परिणति का स्वरूप हमारे युग की सबसे बड़ी विशेषता है। इससे शासक-शासितों के बीच भेद-भाव का असौंदर्य एवं विद्रोह नहीं रह गया। अधिकारों का उपभोग ही पिछले युग के शासकों का पातक रहा है। हमारा शासक-वर्ग शासन के बाह्य रूप-रंगों से लुब्ध न होकर एवं शासन-नीति को हृदय की पवित्र वस्तु मानकर जनता के हृदय में व्यवधान ही खड़ा नहीं होने देता। मनुष्य-जाति को समस्त बाह्य भेदों से ऊपर उठकर अपने हृदय को अक्षुण्ण रखने की आवश्यकता है। हृदय के अवलंबन पर ही, इस युग में मानव-स्वभाव की दुर्बलताओं, दोषों एवं पातकों के लिए अत्यत क्षमा-पूर्ण दृष्टिकोण हो गया है। हमारा दंड-विधान मानव-सद्भावों का घातक नहीं। हमारे कारागार सबसे बड़े शिक्षालय हैं, इसीलिए उन्हें अब शिक्षागार कहते हैं। हम दंड के बदले चारित्रिक शिक्षा देते हैं।

मि० रहमान—वास्तव में, हमारे युग का हृदय हमारा शिक्षा-विभाग है। नवयुवक और नवयुवतियों में उच्च मानवी आदर्शों एवं विश्वजनीन भावों का पूर्ण विकास हो सके, उनके हृदय मानव-प्रेम के मधु से एवं सदाचार के सौरभ से ओत-प्रोत भर जायँ,—इसी ओर हमारी सबसे अधिक शक्ति झुकी

है। शिक्षा हृदय की साधना है। ज्ञान-पद्म के मूल हृदय के सरोवर में हैं। बुद्धि से जान लेना, जान लेना नहीं। हमारी समस्त चेष्टा इस ओर रहती है कि हमारे विद्यार्थी बुद्धि द्वारा जिस सत्य के दर्शन-मात्र करते हैं, उसे हृदय की अविराम साधना से अपने में साकार कर लें। वे अपने ज्ञान की सजीव मूर्ति बन जायँ। उनके हृदय की समस्त शक्ति, भावनाओं की समस्त शिराएँ उनके ज्ञान को सींचकर, उनमें सत्य का बोध ही नहीं, सत्य का प्रेम अंकुरित कर दें।

सुश्री कमला—आपका कहना अक्षरशः सत्य है। हृदय की शिक्षा में ही हमारी विश्व-संस्कृति के, मानव-प्रेम के एवं समस्त जीव-कल्याण के मूल अंतर्हित हैं। जो शिक्षा हमारे हृदय के कपाट खोलकर मनुष्य के भीतर विश्व-प्रेम की उन्मुक्त वायु नहीं भर सकती, वह शिक्षा हमारे सत्य की कुंजी नहीं हो सकती।

मि० रहमान—चलिए न, हमारे विद्यार्थियों में से बहुत-से युवक और युवतियाँ यहाँ वसंतोत्सव में आए हुए हैं। आप देखेंगे कि वे सच्ची शिक्षा के प्रभाव से क्या हो गए हैं!

सब लोग—(प्रसन्नता-पूर्वक) चलिए, चलिए।

[सबका प्रस्थान।]

[सुभग सुरँग वेश-पूर्ण युवक-युवतियों के गिरोह के साथ, जिनमें कुछ कवि, कवयित्री, चित्रकार, कलाविद् एवं साहित्य-मर्मज्ञ हैं, कवि कुमार का मधुर भाव-प्लुत स्वर में, कविता-गान करते हुए प्रवेश; कुछ युवक-युवतियाँ कोमल-श्लक्ष्ण स्वर में कुमार के पदों को दुहराते आ रहे हैं।

कुछ कवि के भाव-विकास एवं शब्द-विलास की प्रशंसा कर रहे हैं। कुमार गोरा, लंबा, इकहरे क़द का युवक है। लंबे, सुनहले, घुँघराले बाल; खुले गले का, ढीला, लंबा, सफ़ेद रेशमी कुरता; चौड़े मोहरे का रेशमी पायजामा, कमर में आसमानी रंग की रेशमी डोरी ख़ूबसूरती से बँधी लटक रही है; बाईं कलाई में जुही की माला लिपटी; पाँव में मखमली जूता।]

गीत

निर्भय हो, निर्भय मानव !
निर्भीक - विचर पृथ्वी पर,
विचलित मत हो विघ्नों से,
निज आत्मा पर रह निर्भर !

है पूर्ण, सत्य अविनश्वर,
है पूर्ण, सत्य रे नश्वर,
है पूर्ण सत्य यह मानव,
है पूर्ण निखिल सचराचर !

मत हो विरक्त जीवन से,
अनुरक्त न हो जीवन पर,
जग परिधि मात्र जीवन की,
स्थित केंद्र अमर उर भीतर !

बन शांत, धीर, क्षमतामय,
बन स्नेही, सहृदय, सहचर,

गुण-दोष-युक्त जग-जीवन,
निज गुण से पर-अवगुण हर !
बढ़ती नित घृणा घृणा से,
तू उसे प्रेम से दे भर,
है दीप दीप से जलता,
है प्रेम प्रेम पर निर्भर !
निश्चय आत्मा है अक्षय,
निश्चय मृन्मय तन नश्वर,
यह जीवन-चक्र चिरंतन,
तू हँस-हँस जी, हँस-हँस मर !

[गीत समाप्त होने पर सब लोग प्रशंसा-सूचक ध्वनि करते हुए दूर्वा-दल पर बैठ जाते हैं ।]

कुसुम—(फूलों की माला गूँथती एवं "निश्चय आत्मा है अक्षय' पद दुहराती हुई) जन्म-मरण के प्रति यह भाव है तो सत्य, किंतु जीवन के इन रूप-रंगों एवं सौंदर्योपभोग के अतृप्त सुख के लोभ को छोड़कर, हँसते-हँसते मृत्यु के कंकाल को आलिंगन करने की कल्पना बड़ी कठिन जान पड़ती है।

कुमार—(कुसुम की अलकों में छिपे गुलाब मुकुल को बाहर निकालते हुए) तुम जीती-जागती कविता हो, प्रिय कुसुम ! जीवन का समस्त माधुर्य एवं प्रेम तुम्हारे लावण्य में सजीव हो उठा है। तुम्हारे मधुर स्वर में सृजन-संगीत झंकृत हो उठता है। तुम्हारी इन नील अकूल आँखों के सौंदर्य पर काल पलक को तरह

अनिमेष एवं मुग्ध होकर अपनी गति भूल जाता है। तुम्हें मृत्यु का भय नहीं, प्यारी कुसुम! तुम्हारे प्रेम-पाश में बँधकर मरण भी जीवित हो उठेगा। वह कंकालों का प्रेमी न रहकर तुम्हारे इस रूप-रंग का प्रेमी बन जायगा।

[कुछ चित्रकार कुसुम की रूप-रेखा अंकित कर रहे हैं।]

सतीश—(रेखाएँ खींचता हुआ, कुसुम से) आपकी यति-हीन रेखाओं से खिंचकर प्रत्येक मनुष्य चित्रकार बन सकता है। मधुर झंकारों की तरह परस्पर लय होती हुई आपकी रेखाओं का सामंजस्य तूलिका से संगीत की सृष्टि करने लगता है। रंग जीवन का स्पंदन पाकर सजीव हो उठते हैं, और छाया-प्रकाश की संगति रूप के सौंदर्य की तरह निखर उठती है।

(फिर चित्र बनाने में लीन हो जाता है)

कुसुम—(हँसती हुई) मैं भी अपने को आपकी आँखों से देख सकती!

कुमार—कुसुम! जन्म-मरण, सुख-दुःख, जीवन के बाह्य विरोधों एवं प्रतीप-आविर्भावों के बीच मनुष्य को, अपनी सहज बुद्धि से काम लेकर, एक बार सामंजस्य स्थापित करना ही पड़ता है। मनुष्य के आधे से अधिक असंतोष का कारण बुद्धि-जन्य है। जीवन के सम्यक् ज्ञान से ही जीवन का सम्यक् उपभोग हो सकता है। समस्त विरोधों के भीतर जीवन की अविच्छिन्न एकता खोजकर उस पर हृदय केंद्रित कर लेना होता है। तब मनुष्य जीवन के उस चरम सूत्र को ग्रहण कर

लेता है, जिसके छोरों में बँधे सुख-दुःख, जन्म-मरण आदि द्वंद्व, तुला के पलड़ों की तरह, उठते-गिरते रहते हैं।

(कुसुम गंभीर हो जाती है)

इसी चरम सत्य के दर्शन कराना, अनेकता में जीवन की एकता का आभास दिखाना कवि, चित्रक एवं कलाकार का काम है। और, यही कला का सौंदर्य है। मुट्ठी-भर धूल में कला समस्त ब्रह्मांड के दर्शन कर देती है। अनेकता के असमंजस में खोए हुए हृदय को एकत्रित कर कला उसे मनुष्य की आत्मा में केंद्रित कर देती है। जीवन के विराट् वैचित्र्य के ताने-बाने सुलझाकर, उसे सरल, सुगम बनाकर एक ही सूत्र में उसे मनुष्य के हाथ में दे देती है।

कुसुम—मैं यही सरलता की मुक्ति चाहती हूँ।

कुमार—हम जीवन को सार-रूप में ग्रहण कर सकते हैं, संसार-रूप में नहीं। जीवन के इस सार से, सत्य के इस सारल्य से, मनुष्य को मिलाकर, कला उसे सबसे मिला देती है। यही सत्य का एकत्व, काव्य का लोकोत्तरानंद रस है।

एलफ्रेड—विगत युग में, कला को कला के लिए महत्त्व देते आए हैं। अब हम जानते हैं कि कला सत्य नहीं, जीवन ही सत्य है। कला में जो कुछ सत्य है, वह उसके जीवन की परछाईं होने के कारण; कलाकार या कवि जीवन को विश्व के आविर्भाव रूप में ही सीमित नहीं रखता, वह उसके दर्शन समस्त विश्व में व्याप्त जीवन के सत्य स्वरूप में करता है।

सत्य ज्वाला है, उसके स्पर्श से समस्त भेद-भावों के विरोध भस्म हो जाते हैं। कला अपना अस्तित्व जीवन में लय कर जब तक उससे तदाकार नहीं हो जाती, उसके मूर्त हाथ सत्य की ज्वाला को नहीं पकड़ सकते। सर्वोच्च कलाकार वह है, जो कला के कृत्रिम पट में जीवन की निर्जीव प्रतिकृतियों का निर्माण करने के बदले अस्थि-मांस की इन सजीव प्रतिमाओं में अपने हृदय से सत्य की साँसें भरता है, उन्हें संपूर्णता का सौंदर्य प्रदान करता है, उनके हृदय-प्रदीप को जीवन के प्रेम से दीप्त कर देता है।

कुमार—आप ठीक कहते हैं। दार्शनिक जिस सत्य के दर्शन प्रज्ञा द्वारा करता है, कवि को उस सत्य को हृदय से खींचकर सजीव कर देना होता है, उसे अपने जीवन में परिणत कर देना पड़ता है, उस सत्य की मूर्ति बन जाना पड़ता है। सच्चा कवि वह है, जो अपने सृजन-प्रेम से अपना निर्माण कर सकता है। अपने को जीवन के सत्य और सौंदर्य की प्रतिमा बना लेता है। कवि का सबसे बड़ा काव्य स्वयं कवि है।

[सतीश कुसुम का रेखा-चित्र तैयार कर लेता है; सब लोग उसे देखकर भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं।]

दारा—वाह, आपने रेखाओं के भीतर ही रेखा-हीन सौंदर्य के दर्शन करा दिए! चित्र की संगति में जैसे रेखाएँ अपना भेद भूल गई हैं! और, पलकें अनिमेष होकर जैसे चंचल नेत्रों के सौंदर्य पर पहरा दे रही हैं!

कुमार—(चित्र देखकर) A thing of beauty is joy for ever.

कुछ लोग—बड़ा ही सुंदर चित्र बना है !

कुसुम—आपको हार्दिक धन्यवाद है, मिस्टर सतीश !

सतीश—(हँसकर) आप इससे भी अधिक मुझे चित्र खींचने का आनंद दे चुकी हैं, मिस कुसुम !

(कुसुम माला समाप्त कर सतीश के गले में डाल देती है)

सतीश—जान पड़ता है, आज वसंतोत्सव के दिन मुझे स्वयं वसंत-श्री ने वरण कर लिया है !

कुमार—सतीश और कुसुम एक दूसरे के लिए ही बने हैं। क्यों, तुम्हारी अपनी बहन के लिए क्या राय है, मि० प्रफुल्ल !

प्रफुल्ल—कुसुम की रुचि बड़ी मार्जित है, मुझे उस पर विश्वास है !

(कुमार कुसुम का हाथ सतीश के हाथ में देता है। सब लोग हर्ष-ध्वनि करते हैं, एवं नव-दंपति को बधाई देते हैं)

[वसंतोत्सव समाप्त हुआ चाहता है। चारोओर से झुंड-के-झुंड नर-नारी आकर आमने-सामने दो पाँतियों में प्रार्थना के लिए खड़े होते हैं। कुमार, दारा, प्रफुल्ल आदि भी उनमें सम्मिलित हो जाते हैं। सतीश और कुसुम सबके बीच में खड़े होते हैं। उनका मुख सामने की ओर रहता है।]

प्रार्थना-गान

मंगल चिर मंगल हो।

मंगलमय सचराचर,

मंगलमय दिशि-पल हो। मंगल०

तमस-मूढ़ हों भास्वर,

पतित, क्षुद्र, उच्च-प्रवर,

मृत्यु-भीत नित्य, अमर,

अग-जग चिर उज्ज्वल हो। मंगल०

शुद्ध, बुद्ध हों सब जन,

भेद - मुक्त निर्भय - मन,

जीवित सब जीवन-क्षण,

स्वर्ग यही भू-तल हो। मंगल०

लुप्त जाति-वर्ण - विवर,

शांत अर्थ - शक्ति - भँवर,

शांत रक्त-तृष्ण समर,

प्रहसित जग-शतदल हो। मंगल०

[प्रार्थना समाप्त कर चुकने पर सब लोग प्रसन्न-मन एक दूसरे से बिदा लेते हैं। धीरे-धीरे उपवन रिक्त हो जाता है। यवनिका पर पुनः हिम-शिखरों की उपत्यका का दृश्य झूलने लगता है। रंगमंच पर पूर्ववत् हलका आसमानी प्रकाश छा जाता है। स्वप्न और कल्पना प्रवेश करते हैं।]

स्वप्न-कल्पना—सम्राज्ञी की जय !

सब लोग—स्वप्न और कल्पना की जय !

स्वप्न-कल्पना—सम्राज्ञी के मनोरंजन एवं लोक-कल्याण के लिए स्वप्न और कल्पना ने अनेक मायावी रूप धरकर, पलकों के असंख्य मुँदे द्वारों से निद्रा के नीरव छाया-लोक में प्रवेश कर, मानव-जाति के मानस-पट पर छाया-प्रकाश के अनेक मनोरम स्वर्गीय चित्र अंकित कर दिए हैं। एक ही समुद्र की अगणित तरंगों की तरह, एक ही प्रकाश की अनेक दीप-शिखाओं की तरह, हमने शतशः नाम-रूपों में विभक्त हो, एक अभिनव सौंदर्य-सृष्टि का निर्माण कर, मानव-जाति की आँखों के सामने उसके भविष्य को साकार कर दिया है! चेतना के निःसीम प्रांगण में, साँसों की डोरियों में झूलते हुए हृदय के स्पंदित पलनों पर सोई हुई असंख्य निश्चेष्ट आत्माएँ, स्वप्न और कल्पना के वायवी पंखों में उड़कर, अभिनव-भावनाओं के स्वर्ग-लोक में अभिसार कर आई हैं। नवीन सौंदर्य के उन्माद से उत्तेजित होकर वे विश्राम करना भूल गई हैं। उन पर फिर से निद्रा की प्रगाढ़ विस्मृति का अंचल डालकर उन्हें सुला देना चाहिए, जिससे वे मानसिक क्लांति से मुक्त हो, कल स्वस्थ होकर जग सकें। कल का प्रभात सोने का प्रभात होगा।

ज्योत्स्ना—स्वप्न! तुम्हारे और कल्पना के दिव्य कौशल एवं क्रिया-चातुर्य से मुझे अपार आनंद हुआ। तुम लोगों ने संसार के सामने वही आदर्श रक्खे, जिन्हें मनुष्य सहज में अपना सकें, एवं दैनिक जीवन के कार्य-कलाप में परिणत कर सकें। समय-समय पर उनके सामने और भी दिव्य आदर्श रक्खे जायँगे।

स्वप्न-कल्पना—यह सब सम्राज्ञी के स्नेह और सहयोग का फल है। सम्राज्ञी की कृपा से हमारा कार्य सफलता-पूर्वक समाप्त हो गया है। अब हमें मुक्ति प्रदान हो। (अपने अंगों की ओर इंगित कर) जब तक हम लोग विश्व के मनस्तत्त्व के इन नाम-रूप के कोषों को धारण किए रहेंगे, मानव-जाति विश्राम नहीं ले सकेगी। अतएव हमें पुनः अनंत में लय होकर अव्यक्त हो जाना चाहिए। बीज संसार को पत्र-पुष्प-फल देकर फिर बीज ही में परिणत हो जाता है। यही सृष्टि का रहस्य है।

ज्योत्स्ना—अच्छी बात है। इन स्वर्गीय स्वप्नों की स्मृतियों के भार से मेरा हृदय भी स्वर्ग-लोक के लिए व्याकुल हो उठा है। किरणो, मेरा यान उपस्थित करो।

[ज्योत्स्ना खड़ी होती है, और अपनी बाँहें फैलाकर धीरे-धीरे सबके ऊपर फेरती है; सब लोग बैठे-बैठे ऊँघने लगते हैं; प्रकाश धुँधला पड़ जाता है। ज्योत्स्ना स्वप्न और कल्पना को छू देती है। दोनो पंख खोलकर धीरे-धीरे ऊपर उठते जाते हैं। प्रकाश और भी मंद पड़ जाता है; स्वप्न और कल्पना उड़कर अंतर्धान हो जाते हैं। क्षण-भर के अंधकार के बाद क्षीण धुँधले प्रकाश में, एक प्रौढ़ नारी के वेश में 'निद्रा' प्रकट होती दिखाई पड़ती है। निद्रा का पीला वर्ण है; कोमल कुम्हलाए अंग; मुँदी हुई पलकें। मुख पर मातृत्व का भाव; बड़े-बड़े पयोधरों पर धूप-छाँह की अलस-शिथिल कंचुकी; छायावर्ण की हलकी रेशमी साड़ी; विस्मृति-सी सघन कोमल केश-राशि; गले में मुँदे नयनों की तरह कमल-मुकुलों की माला; दाएँ हाथ में पोस्ते के फूलों का गुलदस्ता। नेपथ्य में मधुर-मंद

वाद्य-ध्वनि होती है; निद्रा कोमल-कंठ से लोरी के ढंग का गीत गाती एवं अभिनय द्वारा नींद के अलस सुख एवं पूर्ण विश्राम के भाव दरसाती है।]

गीत

सोओ, सोओ, तात !
सोए तरु-वन में खग
सरसी में जलजात !
सजग गगन के तारक
भू - प्रहरी - प्रख्यात,
सोओ जग-दृग-तारक,
भूलो पलक - निपात !
चपल वायु-सा मानस,
पा स्मृतियों के घात
भावों में मत लहरे,
विस्मृत हो जा गात !
जाग्रत उर में कंपन,
नासा में हो वात,
सोएँ सुख, दुख, इच्छा,
आशाएँ अज्ञात !
विस्मृति के तंद्रालस
तमसांचल में, रात,—

सोओ जग की संध्या,

होवे नवयुग प्रात !

[गीत समाप्त होने पर निद्रा मूक-अभिनय करती हुई दौड़ती है; प्रकाश और भी मंद होता हुआ क्षण-भर के लिए अंधकार में विलीन हो जाता है, और निद्रा भी उसी अंधकार में अदृश्य हो जाती है। सर्वत्र पूर्ववत् प्रकाश फैल जाता है।]

पवन-सुरभि—सम्राज्ञी का मनोरथ पूर्ण हो गया, इससे पवन और सुरभि चिर कृतार्थ हुए। सम्राज्ञी के इस अभूतपूर्व सह-वास से जो स्वर्गीय दृश्य हमें देखने को मिले हैं, उनकी अलौ-किक स्मृति सदैव के लिए मन में अंकित रहेगी। अब प्रायः सभी कार्य समाप्त हो चुके हैं; हम लोगों की पलकें भी नींद से भारी हो, झँपने लगी हैं। सम्राज्ञी का यान भी उप-स्थित है।

(किरणें यान उठाकर सामने खड़ी हो जाती हैं)

ज्योत्स्ना—(यान पर बैठती हुई) अच्छा, मैं भी तुम सब लोगों से बिदा माँगती हूँ। इस घड़ी-भर के मधुर मिलन ने मुझे सदैव के लिए तुम्हारे स्नेह-पाश में बाँध दिया है। तुम लोगों से बिछुड़ते हुए मेरा हृदय व्याकुल हो रहा है। पवन, तुम्हारी और सुरभि की सुखद स्मृति मेरे हृदय-पटल पर सदैव जीवित रहेगी।

पवन-सुरभि—पवन और सुरभि सदैव सम्राज्ञी के अनुचर रहेंगे।

[किरणें यान कंधों पर रखकर उड़ने का उपक्रम करती हैं। ओस यान को चारोओर से घेरकर गाते हैं।]

गीत

ओस—

छल छल, टल टल,
जीवन के पल
सजल सजल रे मूक अश्रु-दल!
मधुर मिलन के मोती चंचल,
निठुर-विरह से पिघल-पिघल गल,
छल छल, टल टल,
अश्रु-हार रे बन जाते स्मृति में गुँथ अविरल!

पवन-सुरभि—

चल सुख, चल दुख,
जीवन का मुख—
छल छल, टल टल,
—जन्म-मरण का, विरह-मिलन का, हास-अश्रु का रे रंगस्थल!

[यान धीरे-धीरे उड़कर ओझल होने लगता है। किरणों का मधुर स्वर वायु-मंडल में गूँजने लगता है। ओस एकटक आकाश की ओर देखकर गीत सुनते हैं।]

गीत

प्रिय स्वर्ग-लोक का वास हमें,
प्रिय चंद्रलोक का हास हमें!

लगता है। यह अदृश्य तमसाकृति छाया है, जो अँधेरे में छिपी हुई वन के एकांत में वृक्षों के नीचे सोई हुई थी।

छाया—(पेड़ के नीचे का अंधकार जैसे बोल उठा हो) आह, दुष्ट ने कमर तोड़ दी।

उल्लू—(भारी स्वर में) हा, हा, हा, हा! कौन? (ध्यान-पूर्वक देखकर) आहा! तुम हो छाया मौसी?

छाया—कौन छोकरा यह मुझसे मौसी कहता है?

उल्लू—यह लो! देख नहीं पातीं क्या? आहा! तुम्हें रात को रतौंधी न हो जाती है, मौसी! मैं हूँ उल्लू।

छाया—(क्रोध से) उल्लू कहीं का! छोकरे ने, ऊपर से बड़-से कूदकर, मेरी कमर के दो टुकड़े कर दिए!

उल्लू—(हँसता हुआ) मुझे क्या मालूम था कि पेड़ के नीचे तुम सोई हुई हो? देखूँ, कहाँ कमर टूट गई? (अँधेरे को टटोल-कर) वाह, मौसी, तुम्हारे कमर भी हो, जो मैं दो टुकड़े कर दूँ!

छाया—मर कलमुँहे! मुझसे मज़ाक़ करता है! अरे छोकरे, पीठ, मेरी पीठ तो तोड़ डाली।

उल्लू—गाली मत बको, मौसी! तुम्हारा स्वभाव न-जाने कभी क्यों इतना चिड़चिड़ा हो जाता है! लाओ, तुम्हारी पीठ मल दूँ। (पीठ मलता है) यह लो। अब उठो, मौसी, यह भी कोई सोने का वक़्त है? देखो न, चारोओर नीला-नीला प्रकाश छाया हुआ है! रजनी नानी के समस्त चर अपने काम-धंधों में जुटे हुए हैं।

छाया—मैं क्या तेरी तरह देख पाती हूँ?

उल्लू—आहा! तुम्हें खबर है मौसी, राहु काका चंदा मामा के यहाँ धावा बोलकर उनके अमृत की सुराही झटक लाए। चंदा मामा ब्रह्मा दादा के पास फ़रियाद करने गए। दादा ने उनसे कहा, मौसी, कि वे इसकी चिंता न करें।

छाया—रहने दे अपने काका-मामा की बातें। बातूनी छोकरा, सोने नहीं देता!

उल्लू—अरे, असल बात तो सुन लो। हाँ, तो ब्रह्मा दादा ने चंदा मामा को बताया, मौसी, आज असुर लोग अपना अंतिम उत्सव मनानेवाले हैं। और, इसीलिए वे अमृत छीन ले गए हैं। और, मौसी, ब्रह्मा दादा ने कहा कि—

छाया—उल्लू छोकरा! कै बार अब दादा-दादा कहेगा?

उल्लू—सुन तो लो मौसी! तो दादा ने, ब्रह्मा दादा ने कहा कि उस अमृत का असुरों पर बिलकुल उलटा असर होगा। वे अमृत पीकर कई साल तक, बल्कि मौसी, दादा ने कहा कि असुर लोग अमृत पीकर कई युगों तक बेहोश पड़े रहेंगे, और इस बीच पृथ्वी में आदर्श युग रहेगा। कल का प्रभात उस युग का सोने का प्रभात होगा। (वन के अंतराल की ओर संकेत कर) वह देखो, मौसी, सब-के-सब दानव-पिशाच और भूत-प्रेत इसी ओर आ रहे हैं! आह, मौसी! कैसी-कैसी बिकराल सूरतें हैं! मुझे डर मालूम देता है! (झटपट पेड़ की डाल पर उछलकर ग़ायब हो जाता है)

छाया—(चिढ़कर) दूर हट मेरे सामने से ! छी-छी-छी ! छोकरा, न-जाने, किन नरक के भूत-प्रेतों की बातें कर रहा है ! मारे डर के मेरे रोंगटे खड़े हो गए हैं ! जाऊँ, कहीं और जाकर विश्राम करूँ ।

(अदृश्य रूप से प्रस्थान)

[एकाएक वन के भारी निश्चेष्ट अंधकार में भयानक खलबली एवं उथल-पुथल मच जाती है; चारोओर घर्-घर् हर्-हर् का शब्द गूँज उठता है; वन-प्रांत सायँ-सायँ साँसें भरने लगता है; पेड़ों की शाखाएँ सकपका उठती हैं; प्रगाढ़ निद्रा में सोए हुए पक्षी-गण, आर्त चीत्कार कर, अपने-अपने नीड़ छोड़, भयभीत हो भाग खड़े होते हैं; समस्त वन-भूमि भारी भरकम पदाघातों से जैसे उद्वेलित हो उठती है । अनेकों कदाकार, कुरूप, भयंकर छायाकृतियाँ वन के सघन अंतरालों एवं पृथ्वी के अँधेरे गर्तों और खोहों से बहिर्गत हो चारोओर घूम-घूमकर तांडव-नृत्य करने लगती हैं। ये करालाकृतियाँ नर-पशु की तामसी प्रवृत्तियों एवं सदाचार के अभाव से उत्पन्न होनेवाले विविध रोग, शोक, आपदाओं एवं यंत्रणाओं के प्रचंड स्वरूप हैं, जो प्राकृतिक विकास-नियमों के अनुरूप, सत्प्रवृत्तियों का अधिक प्रचार बढ़ने पर, प्रयोजन न रह जाने के कारण, पुनः तमोगुण में लय होकर सुप्तावस्था को प्राप्त हो जाते हैं । क्योंकि प्रकृति के अज्ञेय अंधकार से स्थूल, क्रूर, विनाशकारी असत्प्रवृत्तियों का जन्म एवं विकास केवल प्रकृति की रचनात्मक, सूक्ष्म सत्प्रवृत्तियों को जीवों के भीतर व्यक्त करने एवं तुलनात्मक संघर्ष द्वारा उनका विकास और रक्षा करने के लिए होता है । सृष्टि के विधान में तामसी प्रवृत्तियों का स्थान और उपयोगिता

अप्रत्यक्ष एवं तिर्यक् रूप से सृष्टि के विकास को सहायता पहुँचाना है। विश्व की बाह्य सत्ता तमोगुण में है, फलतः तामसी प्रवृत्तियाँ गौण रूप से सृष्टि का संहार करती हुईं, सूक्ष्म दृष्टि से सृजन करने में सहायक होती हैं। ये सृष्टि रूपी फल को चारोओर से घेरे हुए कठोर छिलके की तरह हैं, जो जीवों के अज्ञान-जनित समस्त आघात-प्रतिघात सहकर अपने अंतस्तल में सात्विक सूक्ष्म वृत्तियों के रस एवं माधुर्य की रक्षा करती हैं। इसीलिए मनोवैज्ञानिक घृणा, क्रोध, भय आदि वृत्तियों को प्रेम, दया, आदर आदि का ही प्रतीप-रूप बतलाते हैं। इनमें से कुछ के नाम ये हैं—घृणा, क्रोध, लोभ, ईर्षा, दंभ, मोह, हिंसा, कपट, मिथ्या, छल, स्वार्थ, कलह, अत्याचार, क्रूरता, पशुबल, भेद-भाव, भ्रम, आसक्ति, शक्ति-मद, रूप-गर्व, जाति-द्वेष, धर्मांधता, रूढ़ि-पूजा, अविश्वास, युद्ध, महामारी, प्लेग आदि संक्रमक रोग इत्यादि।

दीर्घकाल के प्रयत्न एवं संग्राम के बाद, मानव-जाति के हृदय में विश्व-संस्कृति, मानव-प्रेम, सदाचार आदि सद्वृत्तियों के नवीन बीजों के अंकुरित हो उठने के कारण, पिछले युग की समस्त स्थूल प्रवृत्तियाँ, उपर्युक्त छायाकृतियों के रूपों में एकत्रित होकर इस दृश्य में अपने आदि निवास तमोगुण में लय हो रही हैं। अपने स्वभाव और कार्यों के अनुकूल इनके स्वरूप बड़े विकराल, भयोत्पादक, असुंदर एवं कठोर हैं। कुछ हिलते हुए अस्थि-कंकाल-मात्र हैं; कुछ वृहत् महाकाय, कुछ दीर्घ किमाकार; कुछ अंग-हीन; कुछ कृश; कुछ एक पाद, एक हस्त; कुछ बहुपाद, बहु हस्त; कुछ उग्रदंत, उदग्र नख, प्रचंड चक्षु, विरूपाक्ष, रूपकर्ण, उद्ग्रीव, प्रलंब-बाहु, लोल-कराल-जिह्व इत्यादि। कुछ काले-काले मोटे बालों और

रोओं से आच्छादित ; कुछ नीले, लाल, गहरे रंगों की ज्वालाओं से वेष्टित; अस्थि, चर्म, रुंड-मुंडों से अलंकृत हैं। इनके पास तरह-तरह के चमकीले अस्त्र-शस्त्र हैं; ये खोपड़ियों के पात्रों में अमृत-पान करते, हड्डियों को कटकटाकर ताल देते, एवं अनेक कर्कश शब्द करते हुए नाचते-गाते हैं। अमृत का प्रभाव इनके नीले-नीले ओठों को छूते ही, इनकी प्रकृति के अनुसार तीव्र मदिरा में परिणत हो जाता है, जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश विविध रंगों में पड़ने पर उन्हीं रंगों के स्वरूप में प्रतिफलित होता है।]

प्रलय-गीत

डम - डम - डम डमरू - स्वर,
रुद्र - नृत्य प्रलयंकर !
कंपित दिग्भू - अंबर,
ध्वंस्त अहम्मद डंबर !

क्रूर, शूर, खर, दुर्धर,
अंध तमस पुत्र अमर !
नित्य सर्व शिव अनुचर
भव-भय तम - भ्रम - जित्वर !

मोह - मूढ़ सचराचर,
मोह - रात्रि रात्रिंचर
हरते भव - मोह, लौह
लौह काटता खरतर !

जीवन - तरु में घुमकर
कोमल कलि - कुसुमाकर,
आत्म - त्राण के कठोर
हम खर - कंटक परिकर !

हम अभाव - जनित, अपर,
हमसे सत्-चित् अक्षर,
नाम रूप गुण अंतर
तम प्रकाश - रूपांतर !

झंझाहर जीर्ण पत्र
बोता नव बीज - निकर,
पाता नित सद् विकास,
होता लय तम कट-मर !

[गीत-नृत्य समाप्त होने पर असुर-वर्ग मदिरा की ज्वाला से उन्मत्त हो, और लगातार उछलने-कूदने से क्लांत एवं मृतवत् हो, वन के सघन अंतराल की ओर हटते-हटते, गहरे दुर्भेद्य अंधकार-सागर में विलीन होकर अदृश्य हो जाते हैं।

समस्त वन-प्रांत में पूर्ववत् निर्जन-निस्तब्धता का साम्राज्य हो गया है। मंद-मंद शीतल समीर के स्पर्शों से वन के पत्र मधुर अस्फुट मर्मर करने लगते हैं, जैसे दीर्घ-प्रयास के बाद वन-भूमि मधुर, मनोरंजक, वार्तालाप-पूर्वक विश्राम-सुख प्रकट कर रही हो। क्रमशः चंद्रमा धीरे-धीरे ग्रहण-मुक्त हो, छायातप से कानन-प्रांत के सघन अंधकार को द्रवित करने लगता

है। सद्यः स्वस्थ, किंतु दुर्बल रोगी के मुख की पीली कांति की तरह चारो-ओर एक क्षीण आभा फैल जाती है।

मलिन-विधुर वेश में, सोहनी गाते-गाते, बिरहिणी युवती कोकी का प्रवेश; हलके पीले रंग की धोती, जिसमें लाल, काली, हरी, पीली, नीली कई रंगों की धारियाँ हैं।]

गीत

नाथ, हो स्वर्ण-प्रभात !
त्रस्त, तिमिर-पीड़ित सचराचर
जीवन - पथ अज्ञात !
लिपटे नभ-अंचल में आँसू
अग-जग के अवदात,
बंदी है जग-जीवन का अलि,
खिले विश्व - जलजात !
तुम प्रकाश, तुम हो जीवन-धन,
स्वर्ण - सृष्टि के प्रात,
बरसे प्रेम-प्रभा दिशि-दिशि में,
हो आलोक - प्रपात !

[मंद शिथिल पगों को बढ़ाते हुए कोकी का प्रस्थान]

[इस बीच में निखिल वन-भूमि पूर्णेंदु के रजत-प्रकाश से प्लावित हो जाती है। चतुर्दिक् पत्रों के कंपित अधरों पर चाँदनी का चाँदी का समुद्र लहराने लगता है। चंद्रिका के प्रभाव से पुनरुज्जीवित छाया, रुपहली, घुँघुराली अलकें छिटकाए, हलकी रेशमी धूप-छाँह की साड़ी

पहने, चंचल ओस के मोतियों से अलंकृत, सुंदर षोड़शी अप्सरा के वेश में पुनः प्रवेश करती है ।]

छाया—(अपने आप) रात-भर न-जाने कैसे दुःस्वप्नों ने दबाया । कभी देखती हूँ ,एक निशिचर मेरी पीठ पर सवार है ! कभी सुनती हूँ कि भूत-प्रेत मुझे निगलने आ रहे हैं ! ओह, बड़ा भयावना स्वप्न था ! उसी उनींदी हालत में भागते-भागते नदी के किनारे पहुँची, तो आँखें खुल गईं । क्या देखती हूँ कि चारोओर निर्मल चाँदनी छिटकी है ! आकाश की परियाँ उतर-कर, अपने रुपहले पंख फैलाए, लहरों की चंचल गिलहरियों पर-सवार हो, रलमल-रलमल दौड़कर जल-क्रीड़ा कर रही हैं ! पानी में अपनी परछाईं देखी, तो अवाक् रह गई ! जैसे मैं दूसरे ही स्वप्न-लोक में विचरने लगी होऊँ ! क्या देखती हूँ, मैं एक अप्सरा बन गई हूँ ! रुपहला अलकें हो गई हैं ! अंगों में मोती झलमला रहे हैं । यह सौंदर्य ! यह रेशमी साड़ी ! यह उम्र ! ओह, बड़ी देर तक अपनो ही परछाईं से बातें करती रही ! अपने आप बोलने, अपने मुँह अपनी प्रशंसा सुनने को जी करता है ! मैं कब कैसी हो जाती हूँ,—अपने जीवन के इस रहस्य को मैं स्वयं नहीं समझ पाती !

[सुंदर युवक के वेश में कोक का प्रवेश; रंग-विरंगी बूँदों से र रेशमी बस्त्र; पीठ पर उसी तरह के दो पंख । छाया एक सुंदर युवक क पास आते देखकर उस पर मुग्ध हो, एकटक उसकी ओर देखने लगती है ।]

कोक—(पत्रों के अंतराल से छनती हुई चाँदनी में खड़ी छाया को कोकी समझकर)

तुम्हें कहाँ-कहाँ खोज आया हूँ, प्रिये! घंटों नदी-किनारे बालू में लोटता रहा! (पास आकर) हाय, तुम्हारी यह क्या दशा हो गई है! बाल बिखरे हुए हैं! (ओस-बूँद देखकर) सारा आँचल आँसुओं से भरा हुआ है! जैसे तुम्हारा रोआँ-रोआँ रोता रहा हो! हाय, तुम इतनी दुबली कैसे हो गईं, चकवी! अंग-अंग जैसे कुम्हला गए हैं! मैं यदि जानता कि मेरे विना तुम्हारी यह दशा हो जायगी, तो तुम्हें अकेली क्यों छोड़ता!

(छाया अपने को छिपाने एवं मान दिखाने के अभिप्राय से पीठ फेर लेती है)

कोक—चकवी, प्रियतमे, क्या रूठ गईं!

छाया—(विनोद के अभिप्राय से) रूठूँगी नहीं, तो क्या? मुझे अकेली छोड़कर किसके मुख-चंद्र का अमृत पान करने गए थे?

कोक—आज तुम्हें क्या हो गया, कोको! (प्रेमाधिक्य से कोकी को कोको कहता है) जो कोक अपने एक पत्नीव्रत के लिए स्वर्ग में भी प्रसिद्ध है, जिसके प्रेम की गाथाएँ गा-गाकर मनुष्यों ने प्रेम करना सीखा है, तुम्हें छोड़कर, वह स्वप्न में भी पर-स्त्री से प्रेम कर सकता है? तुम्हारे अधरामृत के विना यह पूनो की सुधा का ज्वार भी मेरी तृषा तृप्त नहीं कर सकता! (चंद्र की ओर इंगित कर) प्रिये, इस चंद्रमा की सृष्टि विधाता ने प्रेमियों के लिए ही की है! तुम्हारे साथ, एकांत में, नदी-

की गति के कारण, झूलने लगती है। कोक उसे देखकर विस्मित एवं भयभीत हो एकदम पीछे हट जाता है।]

कोक—ओह ! न-जाने किस यक्षिणी के माया-जाल में फँसने से बच गया !

[सहसा प्रस्थान]

छाया—(आगे बढ़कर, इधर-उधर देखती हुई) न-जाने कौन खेचर अपनी प्रेयसी की खोज में भटकता हुआ यहाँ आकर मुझसे प्रणय-याचना कर रहा था ! मैंने भी खूब उल्लू बनाया ! ज्यों ही मैंने प्रभात की लंबी अँगड़ाई ली, तो ऐसा डरा कि भागता नज़र आया ! चलूँ, आज का दिन किसी रमणीय उपवन् में बिताऊँ।

[प्रस्थान]

[शनैः-शनैः द्राक्षा का मधुर पीलापन, वन-विटपों की हिलती हुई हरीतिमा के ऊपर बारीक रेशमी-पट की तरह झूलने लगता है। एक सुन-हली अलकोंवाले, प्रसन्नमुख बालक के वेश में, तुरही बजाते हुए, लावे का गाते-गाते प्रवेश; हलके भूरे रंग के रेशमी वस्त्र; अरुण जलदों के पंख, गले में चौड़े लाल-रिबन का बो, कमर में सुनहली डोरी बँधी, दाएँ हाथ में लाल कमल की कली ; नेपथ्य में ड्रम, क्लेरिओनेट, पाइप आदि वाद्य बजते हैं।]

गीत

हो आलोक ! हो आलोक !

इस जग के मलीन-मुख से द्रुत

मिटे अँधेरे का भय, शोक !

हो आलोक ! हो आलोक !

एक ज्योति के पाश में बँधें

भगिनि-भ्रात से भू-स्वर्लोक !

हो आलोक ! हो आलोक !

खिले पद्म-सा ज्योति-वृंत पर

जीव-कोषमय यह जग-ओक !

हो आलोक ! हो आलोक !

मिलें प्रेम के स्वर्ण-प्रात में

फिर भू-नभ के कोकी-कोक !

हो आलोक ! हो आलोक !

पुण्य-प्रार्थना-सी नव-ऊषा

उतर रही वह, लो अवलोक

[गीत समाप्त कर चुकने पर लावा बार-बार अपने हाथ की लाल कमल-कली की ओर देखता है, जिसकी पँखुड़ियाँ धीरे-धीरे खुलने का उपक्रम कर रही हैं, वह जैसे उसका काल-सूचक यंत्र हो। द्वामा कुछ गहरी हो, रक्तोत्पल वर्ण धारण करती है। सघन पत्रों के स्वप्न-नीड़ों में सोए विहग जग-जगकर कलरव करने लगते हैं। नेपथ्य से उनका प्रभात-गीत सुनाई पड़ता है।]

गीत

कौन अप्सरि अज्ञात,

उतरती नभ से आभा-भार,

स्वर्ग - श्री - शोभा - सी साकार
फुल्ल मधु-छवि की - सी संसार,
विश्व-सुषमा कृश-गात !
स्रस्त छाया-तम का कच-भार,
नवोज सरोज उरोज उभार,
गलित स्वर्णिम तन-द्युति सुकुमार,
श्वास सुरभित मृदु वात !
आँचे-च्युत-चल-जल भृकुटि-विलास,
अधर-पल्लव, स्मिति मुकुल-विकास,
चतुर्दिक् राशि-राशि हिम-हास,
अरुण पद-तल जलजात !
जगत - जीवन की - सी झंकार,
निखिल इच्छाओं की गुंजार,
अपरिमित आशांचल विस्तार,
दृगों में नवयुग-प्रात !

[सहसा बरगद की शाखाएँ हिलती हैं, और पवन उनसे कूदकर नीचे उतरता है ।]

पवन—(पूर्व की ओर देखकर) ओह, कब की पौ फट गई आज बड़ी देर में आँखें खुलीं ! कल न-जाने किन फूलों की मादक गंध पी गया कि घड़ी-भर भी शांति-पूर्वक नहीं सो पाया । रात-भर स्वप्न-लोक में विचरता रहा ! न-जाने कैसे-कैसे अलौकिक स्वप्न देखे ! (ताली पीटकर) मैं, जो आजीवन क्वाँरा

रहने की प्रतिज्ञा कर चुका हूँ, स्वप्न में क्या देखता हूँ कि एक अनिंद्य सुर-सुंदरी से मेरी शादी हो गई है! (हँसता है) अवश्य किसी अप्सरा या सुर-बाला ने, स्वप्न-पथ से उतरकर, मुझे मायाभिभूत कर लिया था! ऐसी रात तो आज तक कभी बीती ही नहीं! और, अभी न-जाने किसके गाने की ध्वनि कानों में गूँज रही थी कि नींद खुल गई! (इधर-उधर देखकर, लावे से) अहा, आप कौन हैं, कोई राजपुत्र या देव-कुमार? अब भी क्या मैं उस इंद्रजाल के प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाया?

लावा—(प्रसन्न-मुख, पवन के निकट आकर) मैं ज्योतिर्मयी उषा का दूत हूँ, प्रकाश का संदेश-वाहक हूँ!

पवन—आप ही ने गाकर मेरा सोने का सुख-स्वप्न भंग किया?

लावा—(आश्चर्य से) सोने का सुख-स्वप्न भंग किया? मैं तो संसार के लिए सोने का प्रभात और सुख के स्वप्न लाया हूँ! आज का प्रभात स्वर्ण का प्रभात है, महाशय! उषा स्वर्ग से नवीन प्रकाश लेकर पृथ्वी पर शुभागमन कर रही हैं। मैं आपको उसी का संदेश देने आया हूँ। उषा की सोने की डाली नवीन आशा, नवीन अभिलाषाओं से, नवीन रूप, नवीन रंग, नवीन गंध, नवीन कलि-कुसुमों से भरी हैं। चलिए, देवी का स्वागत करें।

पवन—चलिए, दूतवर ! क्या आप मुझे अपनी पीठ पर कूदने देंगे ?

[दोनो का प्रस्थान]

(यवनिका)

पाँच

उदयाचल का दृश्य; प्रभात-काल; स्निग्ध, प्रशांत, स्वर्णाभा से मंडित उदयाद्रि, सोने के सुमेरु की तरह, अपना जाज्वल्यमान उत्तुंग मस्तक, अपनी ही गौरव-गरिमा में, निर्भीक हो, आकाश की ओर उठाए हुए है! शिखर पर, विशाल विजय-केतु-सा नीलाकाश बालातप की बीचियों में फहरा रहा है। चारोओर फैला हुआ पलाश का प्रफुल्ल वन, वसंतागम से, नवीन जीवन की ज्वालाओं में सुलग उठा है। उपत्यका में, सरोवर का राशि-राशि गलित-स्वर्ण-जल, सौ-सौ इच्छाकांक्षाओं में उमड़-कर लोट-लोट रहा है। पूर्वांचल के भाल पर उषा का, आधुनिक रुचि से निर्मित, कुसुमित लताओं से वेष्टित, सुरम्य भवन शोभा दे रहा है, जिसके झरोखों पर कोमल किसलयों के कुसुम्भी परदे चारवायु में हिल

रहे हैं। गिरजे के ढंग की, ऊँची उठी, तिरछी, सुकोण छत, नीलम की स्लेटों से पटी, दमक रही है। पूर्व की ओर, रक्त पद्मराग का विशाल प्रवेश-द्वार है; जिसके सामने दूर तक फैला हुआ रमणीय उद्यान है। यत्र-तत्र हरित दूर्वा-परिवृत, देशी, विदेशी सुरंग कुसुमों की वर्ग-वृत क्यारियाँ और विटप-कुंज एवं लता-मंडप बने हैं। बीच में अपने ही आवेश में उठकर चूर-चूर होता हुआ सोने का फुहारा। इधर-उधर, लाल रंग की सर्पाकार पगडंडियाँ।

उपवन में विविध वेशों में, हलके-गहरे, रंग-विरंगे, ट्यूनिक, फ्रॉक, कुरते, साड़ी आदि पहने, देशी-विदेशी फूलों के हँसमुख बालक-बालिकाएँ छोटे-छोटे गिरोहों में घूम-फिरकर, परस्पर हास-परिहास, क्रीड़ा-कौतुक,—आमोद-प्रमोद में निमग्न हैं। लंबे-लंबे ट्यूलिप, गोरे-गोरे नारसिसस, आसमानी बैंगनी हिपसिंथ, चंपई पोटेन्टिला, बड़े-बड़े रेशमी हालीहाक, तितलियों-सी पंख फैलाई आइरिस, सुनहले डेफोडिल, रंग-विरंग पिटूनियाँ, जैरेनियम, डेज़ी, पैंज़ी, लार्कस्पर, कारनेशन, वायलेट, स्वीट पी तथा केना, पलाश, कचनार, कनियार, माधवी, मालती, मोतिया, चंपा, गेंदा, गुलाब, चमेली, जुही, कुंद आदि अनेक रंग के वस्त्र पहने, एवं अलकों में अपने-अपने नाम के फूल खोंसे, ओस-विंदुओं की माला गूँथते, भौंरों और तितलियों के पाँखों को बटोरकर पंखा करते, वार्तालाप-पूर्वक इधर-उधर टहलते हुए प्रातः-क्रीड़ा कर रहे हैं। परदा उठता है।]

(कुछ फूलों के बालक गाते-गाते आते हैं, और उसी प्रकार चले जाते हैं)

गीत

मुकुलित तन हो, प्रमुदित मन हो,

सुभग सुरँग अँग, सौरभ-घन हो।
वृंत-शयन हो, तुहिन-चयन हो,
मधुर मलय, मधुमय गुंजन हो!
नव-बचपन हो, नव-यौवन हो,
क्रीड़न, आलिंगन, चुंबन हो!
नील गगन हो, नव-मधुवन हो,
हास-लासमय जग-जीवन हो!

स्नोड्रॉप—तुम्हारी आँखें मुझे बड़ी सुंदर लगती हैं, वायला!

वायलेट—तुम ऐसे ही भोले रहोगे क्या स्नोड्रॉप!

(दोनो के बीच में पेंज़ी आती है)

स्नोड्रॉप—तुम्हारे पास बड़े ही सुंदर फ़्रॉक हैं; पेंज़ी! तुम्हारी रुचि बड़ी अच्छी है!

पेंजी—(प्रसन्न होकर) कैसा आनंद है! मुझे तो तितली होना चाहिए था!

[दूसरी ओर जाते हैं]

ट्यूलिप—मैंने अपनी बड़ी-सी हथेली की कटोरी में तुम्हारे लिए कल रात बहुत-से मोती इकट्ठा किए हैं, पोटेन्टिला! वही तुम्हें देने आया हूँ।

(ओस के मोती देता है)

पोटेन्टिला—इस भद्रता के लिए धन्यवाद देती हूँ, ट्यूलिप! तुम सबसे लंबे भी तो हो, तुम्हारे सिवा यह काम और कौन कर

सकता है ! (मोती देखकर) ओह, मैं कैसी सुखी हूँ ! न-जाने हार गूँथना मुझे इतना क्यों भाता है !

ट्यूलिप—इससे सुंदर कोई मनोविनोद भी तो नहीं ! मुझे कल किरणों ने परी की कहानी सुनाई थी। तुम वही परी हो, पो !

पोटेन्ट्रिला—मुझे परियों की कहानियाँ बेहद पसंद हैं, क्या तुम नहीं सुनाओगे ?

[दोनो टहलते हुए जाते हैं]

फ़ॉर गेट मी नॉट—मुझे भूल न जाना, प्यारी पी ! तुम्हारे कोमल स्वभाव की मधुरता ने मुझे मोल ले लिया है।

स्वीट-पी—मैं जानती हूँ, नो ! तुम प्रेम के लिए सर्वस्व निछावर कर सकते हो।

फ़ॉर गेट मी नॉट—तुम्हारा प्रेम और विश्वास पाकर मेरा जीवन सफल हो गया ! मैं सदैव इस प्रेम का अमर स्मृति-चिह्न बनकर जीवन व्यतीत करूँगा।

[दोनो जाते हैं]

डैफ़ोडिल—(दोनो हाथों से ताली बजाता) मुझे नाचना बड़ा अच्छा लगता है, बेहद अच्छा। यह जीवन का सुनहला पल विना नाचे-कूदे, उदास मुख लटकाए बिता देना कैसी नादानी है !

पिटूनियाँ—ठीक कहते हो, डैफ़ोडिल ! हँसी-खुशी, रास-रंग मनाने के सिवा जीवन का और ध्येय ही क्या हो सकता है ?

अपने ही सुख से खिलकर अपने ही सुख में विलीन हो जाना! आनंद का एक क्षण,—यही तो जीवन है! चलो, मैं तुम्हारे साथ नाचूँगा। तुम क्या हमारे साथ नहीं नाचोगी, डेज़ी! तुम्हीं तो हमारे उपवन की तारिका हो।

डेज़ी—(प्रसन्न होकर) ज़रूर नाचूँगी।

डैफ़ोडिल—तुम कैसी हँसमुख लड़की हो!

डेज़ी—मैं शाम ही को सो जाती हूँ, इसीलिए सुबह एकदम स्वस्थ और प्रफुल्ल होकर उठती हूँ।

कार्नेशन—प्रेम ही जीवन है! प्रेम की मदिरा पीकर जब तक आँखें आरक्त नहीं हो उठतीं, तब तक जीवन का उपभोग कैसा?

(डैफ़ोडिल, पिटूनियाँ, एमेरंथस, डेज़ी आदि नृत्य करते हैं)

गीत-नृत्य

संयुक्त—

हास-हास, लास-लास,
साँस-साँस में सुवास!

कुछ—

दल-दल में रंग-रंग,
पल-पल में नव-उमंग!

कलि-कलि में नव-विकास,
जग चिर जीवन-निवास!

कुछ—

हिल हँस लें संग-संग,
जीवन चल - जल - तरंग !

काल-डाल में विलास,
जीवन-क्षण हिम-हुलास !

कुछ—

जीवन शाश्वत वसंत,
जय जग-जीवन अनंत !

कुछ—

जन्म-मरण आस-पास,
जीवन न मृत्यु-ग्रास !

कुछ—

जीवन चिर-मुक्त द्वार,
जन्म-मरण चल किवार !

संयुक्त—

आवागम - मुक्त - पाश,
जीवन अग जग प्रकाश !

हनीसकल—तुम परियों की फुलवारी के लिए बनी हो, प्यारी आइरिस, तुम्हारी रेशमी सुकुमारता स्वर्गीय वस्तु है !

आइरिस—मुझे यहाँ केवल तुम्हारी चूर्ण अलकों ने बाँध रक्खा है, ओहो डियर !

(दोनो टहलते हुए जाते हैं)

रोज़—रुष्ट न हो, प्यारी लिली !

लिली—मैं रुष्ट नहीं होती, रोज़ ! मैं चाहती हूँ, तुम प्रेम का सम्मान करो। प्रेम पर श्रद्धा रक्खो। प्रेम पाकर जब कोई उच्छृं-खल और उन्मत्त होने लगता है, तो मुझे अच्छा नहीं लगता। तुम बड़े कामुक हो !

रोज़—मैं वसंत का पुत्र हूँ, लिली ! मेरी नाड़ियों में जिस नवीन यौवन के रक्त की लालिमा दौड़ रही है, रोओं में जिस रूप की ज्वाला सुलग रही है, उस पर भी कुछ ध्यान दो ! मेरी साँस-साँस से केवल तुम्हारे प्रेम की सुगंध आती है।

लिली—यह मैं जानती हूँ।

रोज़—तुम अनिंद्य सुंदरी हो, प्यारी लिली ! (उसे बाँहों में बाँधकर ज़ोर से उसका मुँह चूमता है) ज्यों-ज्यों तुम युवती हो रही हो, तुम्हारे अंग-अंग से फूटते हुए लावण्य-विकास को देखकर मेरी पलकें प्रतिक्षण आनंद और विस्मय से विस्फारित होती जा रही हैं।

[लिली लज्जाधीर हो सिर झुका लेती है, गुलाब उसे प्रेम-विवश करने जाता है।]

गीत

सुखमा की जितनी मधुर कली,
उन सबमें सुंदर सलज लिली।
वह छायातप में सहज पली,
अपनी शोभा से स्वयं खिली।

वह तरुण प्रणय की पलकों को
सौंदर्य-स्वप्न-सी प्रथम मिली,
वह प्यारी, गोरी, रूप-परी,
जग में मेरे ही संग हिली।

(दोनो का प्रस्थान)

[उषा, झरोखे से परदा हटाकर, अपना रक्तोत्पल-सा सुंदर मुख बाहर निकाल, मंद-मंद मुसकुराती है। कुंद, जुही, पिटूनियाँ, नरगिस, डेज़ी आदि उषा की ओर उँगली से इंगित कर ताली पीटते हैं। कोई बाहर आने का संकेत करता है, कोई पुकारता है।]

कुछ फूल—मर्म्मा ! मम्मी !

कुछ फूल—अम्मी ! अम्मी !

उषा—मेरा प्यार लो—मेरा प्यार लो ! (हाथ बाहर निकालकर हिलाती है)

[धीरे-धीरे सब फूल झरोखे के सामने एकत्रित होकर गीत-नृत्य करते हैं।]

गीत

लो, जग की डाली-डाली पर
जागीं नव-जीवन की कलियाँ !
मिट्टी ने जड़ निद्रा तजकर
खोलीं स्वप्निल पलकावलियाँ !

मलयानिल ने सरका उर से
उर्वी का तंद्रिल छायांचल,

रज-रज के रोएँ-रोएँ में
छू-छू भर दीं पुलकावलियाँ!
शशि-किरणों ने मोती भर-भर
गूँथी सौरभ-अलकावलियाँ।
गूँजीं, मधु-अधरों पर मँडरा
इच्छाओं की मधुपावलियाँ!
श्री, सुख, स्वप्नों से भर लाई
लो, ऊषा सोने की डलिया,
मुखरित रखतीं जग का आँगन
ये जीवन की नव रँगरलियाँ!

[अनेक चटकीले रेशमी रंगों के वस्त्रों से अलंकृत, नीली, पीली, लाल, हरी, बैंगनी एवं मिश्रित वर्णों की तितलियाँ, रंग-बिरंगे पंख फैला, मुकुल-वयसा बालिकाओं के रूप म प्रवेश करती हैं। फूलों के बालक एवं तितलियाँ, भिन्न-भिन्न जोड़ों में बँटकर, परस्पर बाँहों में बँधे, एक दूसरे का मुख चूम-चूमकर, सहज सुख व्यंजित करते हुए, गीत-नृत्य करते हैं।]

तितलियों का गीत-नृत्य

जीवन के सुखमय स्पर्शों-सी
हम खोल-खोल पुलकों के पर,
उड़ती फिरतीं सुख के नभ में
स्मिति के आतप में ज्यों स्मितिचर!

पा साँस चेतना की मानो
जड़-वृंत-नीड़ से उड़ सत्वर
हम फूली फिरतीं फूलों-सी
पंखों की सुरँग पँखड़ियों पर।

पल-पल चल-पलकों में उड़तीं
चितवन की परियों-सी सुंदर
हम, शिशु के अधरों पर खिलतीं-
स्वप्नों की कलियों-सी सुखकर !

चेतना रेशमी सुखमा की
सौ-सौ रुचि रंग रूप धरकर
उड़ती हो ज्यों रचना-सुख में,
रँग-रँग जीवन के गति-प्रिय पर !

(फूलों-तितलियों का संयुक्त गान)

तितली—

हों जग में मधुर फूल-से मुख,
जीवन में क्षण-क्षण चुंबन-सुख !

फूल—

हों इच्छाओं के चंचल पर
अधरों से मिलते रहें अधर !

तितली—

हों हृदय प्रणय-मधु से मधुमय,
उर-सौरभ से जग सौरभमय !

फूल—

हां सबके प्रिय स्नेही सहचर,

यह धरा स्वर्ग ही-सी सुखकर !

[गीत समाप्त होने पर दोनो मूक-अभिनय कर अनेक हाव-भावों से जीवन का उल्लास प्रकट करते हैं। कुछ लोग उषा को बुलाते हैं।]

कुछ फूल—बाहर आओ ना, मम्मी !

तितलियाँ—आकर हमारे साथ खेलो ना, जीजी !

उषा—आती हूँ—आती हूँ। (झरोखे से मुख अदृश्य हो जाता है)

गेंदा—तुम्हारी मित्रता से मैं अपने को गौरवान्वित समझता हूँ, मिस्टर डल्हिया !

डल्हिया—(चाटुकारी से विरक्त हो) ओ, ऐसी बात है, गेंदा !

[प्रभात-किरणों के साथ उषा और अरुण का प्रवेश; प्रभात-किरणें गुलाबी रेशम के वस्त्र पहने हैं; किशोर-वयसा, स्मित मुख एवं सद्यः—स्वस्थ। उषा अनिंद्य सुंदरी; सद्यःस्फुट, गुलाब-सा आनन, अधखुले नील-नलिन-से नयन; तिमिर की दो रेखाओं-सी भृकुटियाँ; पीली-पीली घुँघराली केसरी अलकें; कीर की-सी नासिका; चंपक-वर्ण; मदनबान की कलियों-सी उँगलियाँ; सोने की ज़री की साड़ी, ज़री की कंचुकी; उठे हुए वक्षःस्थल मानो चकवा-चकवी के मधुर प्रभात-मिलन हों। गले में झूलती हुई क्रमशः छोटे-बड़े मोतियों की एकावली; बाईं बाँह में कुहनी के पास से गुलाबी रेशमी डोरी में लटकी सुनहली तार की डाली, जिसमें अनेक खिले-अधखिले कलि-कुसुम भरे हुए हैं। अरुण,—सुंदर, स्वस्थ ऋषि-

कुमार-सा; गेरुवे रंग के रेशमी वस्त्र; कांतिमान् आनन। प्रभात-किरणें उषा और अरुण को चतुर्दिक् घेरकर गा रही हैं।]

गीत

तुम नील-वृंत पर नभ के जग,
ऊषे! गुलाब-सी खिल आईं!
अलसाईं आँखों में भरकर
जग के प्रभात की अरुणाई!

लिपटीं प्रकाश के उर से तम
लज्जा-लाली की-सी झाईं!
भू पर उस स्नेह - मधुरिमा की
पड़ती सखि, कोमल परछाईं!

तुम जग की स्वप्न-शिराओं में
नवजीवन रुधिर सदृश छाईं,
मानस में सोईं, भावों की
लो, अखिल कमल-कलि मुसकाईं।

आशाऽकांक्षा के कुसुमों से
जीवन की डाली भर लाईं,
जग के प्रदीप में जीवन की
लौ-सी उठ, नव-छवि फैलाईं!

[मनोहर रंगों के फ़रों से विभूषित बालक-बालिकाओं के रूप में प्रवेश कर, प्रभात-विहग गीत-नृत्य करते हैं।]

गीत

जागो, जीवन के आतप में
आओ, हिल-मिल खेलें जी-भर,
गई रात, त्यागो जड़-निद्रा,
खुला ज्योति का छत्र गगन पर!

चहकें जुट जग के आँगन में
हो निज लघु नीड़ों के बाहर,
एक गान हो यह जग-जीवन,
हम उसके सौ-सौ सुखमय स्वर!

सुख से रे रस लें, जीवन-फल
छेद प्रेम की चंचु से प्रखर,
डाल-डाल हो क्रीड़ा-कलरव,
शाख-शाख हो इस जग की, घर!

मुक्त गगन है जग-जीवन का,
उड़ें खोल इच्छाओं के पर,
हो अपार उड़ने की इच्छा,
है असीम यह जग का अंबर!

(किरणें विहगों के बाहु-पाश में बँधकर गाती हैं)

कनक-किरण! कनक-वरण!
स्वर्णिम महि-शतदल पर
शोभित लघु अरुण चरण!

कनक-किरण, कनक-वरण !
झुक-झुक मुख चूम-चूम
तृण-तृण-कण प्रीति-भरण !

कनक-किरण, कनक-वरण !
दिशि-धनु-शर-सी असंख्य
द्रुत भव-तम-भीति हरण !

कनक-किरण, कनक-वरण !
रवि-छवि से स्मित लघु पर,
अप्सरि-सी व्योम-तरण !

कनक-किरण, कनक-वरण !
शतकर धृत, अंक लसित
सस्मित शिशु विश्व शरण !

कनक-किरण, कनक-वरण !
आतप से त्रस्त तिमिर,
जीवन से त्रस्त मरण !

[सब फूलों के शिशु उषा को चारोओर से घेर लेते हैं। कोई उसकी साड़ी का छोर, कोई उँगलियाँ पकड़कर अनेक प्रकार से अपना लाड़-प्यार प्रदर्शित करते हैं। उषा किसी की ठोड़ी पकड़ती है, किसी का मुख चूमती, किसी के माथे पर हाथ फेरती, किसी का फ्रॉक, फीते का बो और ट्यूनिक की पेटी ठीक करती हुई मातृत्व का उपभोग करती है ।]

सिरिस—(छोटा-सा इंद्रधनुषी रेशमी रूमाल हिलाता हुआ) देखो अम्मी, इंद्रधनुष पकड़ लाया हूँ।

कुंद—(आगे बढ़कर) मेरे दाँत देखो, मेरे-से दाँत हैं किसी के?

चंपा—मेरी-सी सुंदर हैं तुम्हारी उँगलियाँ?

उषा—(नरगिस से) और तेरे क्या सुंदर हैं? आँखें, क्यों रे नरगिस!

नरगिस—(शरमाकर जुही की ओर इंगित कर) देखो अम्मी, जुही कैसी सुंदर लड़की है!

उषा—और जुही तो तुझे प्यार नहीं करती, रे नरगिस! कहती है, तू साँवला है!

नरगिस—(जुही से) तुम मुझे प्यार नहीं करतीं! क्यों जुही?

(दोनो हाथ पकड़कर जाते हैं)

जुही—प्यार क्यों नहीं करती। तुम्हारे मुख का तिल कैसा सुंदर लगता है! (दोनो एक दूसरे का मुख चूमते हैं)

[कुसुंभी रंग के वस्त्रों में, छोटे-छोटे बालकों के रूप में पल्लवों का एवं रंग-विरंगे सुंदर वस्त्रों में, छोटी-छोटी बालिकाओं के रूप में कलियों का प्रवेश। दोनो एक दूसरे की बाँहों में बँधकर गाते हैं।]

गीत-नृत्य

दोनो—

जीव निखिल भगिनि-भ्रात

पुरुष-प्रकृति पिता-मात!

कलि—

जीवन-कलि विविध वर्ण,

किसलय—

जग-तरु हम तरुण पर्ण,

दोनों—

बहुमणि ज्यों जटित स्वर्ण
शोभित नित संग जात !

दोनों—

जीवन हो सफल, विफल,
रहे, बहे सुख - परिमल,
प्रेम - मधु - मधुर उर-तल
दल - दल हों सकल साथ !

[गीत-नृत्य समाप्त हो जाने पर सब लोग परस्पर आमोद-प्रमोद एवं वार्तालाप करते हुए इधर-उधर उपवन में विचरने लगते हैं ।]

उषा—इस जीवन के पास कितने रूप-रंग, कितने हाव-भाव, कितना सुख और सौंदर्य है ? यह रूप-रंग रुचि-रेखा का संसार ही मुझे-सबसे प्रिय है । इस जड़ मिट्टी के आवरण को फाड़कर, जीवन की अमर उर्वरता, अपने ही सृजन-सुख के कारण, असंख्य आकार-प्रकार धारण कर, नित्य नव-नव कलि-कुसुमों, भावनाओं-कल्पनाओं एवं हासोच्छ्वासों में फूट-फूट पड़ती है । जीवन की अकलुष स्मिति मिट्टी के अस्थिर अधरों पर से मानो कभी कुम्हलाना ही नहीं चाहती ! किसी अज्ञात सुख-स्पर्श से

यह निर्जीव, चेतना-शून्य धूलि नई-नई हरीतिमा में, नव-नव अंकुरों में निरंतर रोमांचित होती रहती है! जीवन का यह आश्चर्य-जनक अज्ञेय सृजन-रहस्य हृदय को विस्मय से अवाक् कर देता है। केवल इसके सामने श्रद्धा-पूर्वक झुक जाने को जी करता है। इन नवीन आशा-अभिलाषाओं एवं उमंगों से उल्ल-सित जीवन के नवीन शिशुओं के साथ ही मुझे सबसे अधिक सुख मिलता है।

अरुण—तुम्हारा भाव-प्रवण हृदय सृष्टि के सौंदर्य पर अत्यंत अनुरक्त है, प्रिये! गृह और आँगन की कल्पना बड़ी ही सुंदर और सुखमय कल्पना है। तुम जिस प्रकार सृजन के सौंदर्य पर मुग्ध हो, मैं उसी प्रकार संहार की निर्दयता से विस्मित हूँ! किस प्रकार यह दुःख-द्वंद्व, पाप-परिताप मय, उग्र नृशंस विनाश विधाता के इस मंगलमय विधान को सहायता पहुँचा रहा है, सूर्योदय से सूर्यास्त तक मैं यही सोचता हूँ, इसी का अन्वेषण करता हूँ। जब मैं इस श्री-संपन्न आँगन को नाँघकर बाहर पैर रखता हूँ, जहाँ दसों दिशाओं के अनेकों चराचर मिलते हैं, तब मैं संकलन करना भूलकर विश्लेषण करने लगता हूँ! और तब जीवन के जिस कुरूप अस्थिपिंजर के दर्शन मुझे मिलते हैं, उसकी कदर्यता से मन का मोह मिट जाता है।

उषा—मोह को मिटाना ध्येय नहीं है, नाथ! अनुरक्ति एवं मोह को पहचानना ही ध्येय है। जड़ भी निर्मोही होते हैं,

पर ज्ञान घृणा नहीं करता। इस रूप और रंगों की सृष्टि से अधिक मनोहर मुझे कुछ नहीं लगता। जीवन-शक्ति के समस्त दर्शन, ज्ञान, विज्ञान, भावना, कल्पना एवं गुणों की अंतिम और ठोस परिणति इसी नाम-रूप के जगत् में है। यही साकार सत्य है! विधाता की अनंत क्रियात्मक कला—जन्म-मृत्यु, सृजन-संहार—समस्त द्वंद्व, इसी विभिन्नता के वैचित्र्य से पूर्ण, मूर्त विश्व के रूप में चरितार्थ हो रहे हैं।

अरुण—तुम्हारा कहना सत्य है, प्रिये! चाहे रूप से अरूप की ओर देखें, चाहे अरूप से रूप की ओर, दोनो ही प्रकार से परमात्मा के आनंदमय स्वरूप के दर्शन मिलते है।

[हरे-हरे वस्त्र पहने छोटी-छोटी दूब की बालिकाओं एवं सफ़ेद वस्त्र पहने छोटे-छोटे ओस के बालकों का प्रवेश; दोनो परस्पर आलिंगन-पाश में बँध, एक दूसरे का मुँह चूम-चूमकर नृत्य करते एवं गाते हैं।]

गीत

दूब-बालाएँ—

लघु-लघु धर पग,
छा-छा अग-जग,
तिरतीं हम अनंत जीवन-मग!

ओस-बाल—

जीवन के चल,
हम लघु-लघु पल,
हँस-हँस नित भरते जग-अंचल!

दूब—

छू-छू कोमल
जीवन पद-तल,
पुलकित खिल पड़ते दूर्वा-दल !

ओस—

चुटकी क्षण, क्षण,
दे - दे जीवन,
बरसाता लोकों के हिम-कण !

दूब—

हम जग-पथ पर
बिछ - बिछ मृदुतर
भव-पथिकों का लेतीं दुख हर !

ओस—

हम स्मित नभ चर
उतर अवनि पर
धोते कलि-कलि का मुख कातर !

दूब—

तृण-तृण के कर,
प्रभु करुणाकर
जीवन मोती से देते भर !

ओस—

पतित क्षुद्र जन

को करुणा-घन

उठा, लगा उर, करते पावन !

[नेपथ्य से पवन की वंशी-ध्वनि सुनाई पड़ती है । पवन और लावे का प्रवेश ।]

लावा—स्वागत, देवि, स्वागत !

उषा —प्रसन्न रहो, प्रकाश के संदेश-वाहक !

पवन—छोटी चाची ! चलिए, उस सरोवर के किनारे बैठकर आपको प्रेम की विश्वमोहिनी वंशी-ध्वनि पर मुग्ध, आनंद और उल्लास से आत्मविस्मृत चराचरों का नृत्य दिखाऊँ ।

उषा—अच्छी बात है, चलो ।

(सब लोग सरोवर की ओर जाते हैं)

[उद्यान के दक्षिण ओर गिरि-उपत्यका में विशाल निर्मल सरोवर लहरा रहा है । जल का घूँघट हटाकर अर्ध-विकसित सरोज-बालाएँ अनिमेष दृष्टि से सूर्योदय की प्रतीक्षा कर रही हैं ।]

उषा—ये चेतना-शून्य पद्म-मुकुल भी निर्निमेष दृष्टि से प्रकाश की प्रतीक्षा कर रहे हैं ! समस्त चराचर एक ही नियम से परिचालित होकर एक ही ध्येय की ओर अग्रसर हो रहे हैं ।

[पवन बाँसुरी में तान छेड़ता है, जिसकी ध्वनि से जल-स्थल दोनों आनंदोद्वेलित हो उठते हैं । सरोवर के वक्षःस्थल पर अनेक लहरें उठ-उठकर नृत्य करती हुई दृष्टिगोचर होती हैं । और गिरि-प्रांत से अनेक वायु के झकोरे नृत्य करते हुए आकर उनसे मिल जाते हैं । लहरें नव-युवती के

बालिकाओं के रूप में; वायु के झकोरे नवयुवकों के रूप में। लहरें मछलियों की आकृति की सुंदर सुरंग सलवारें पहने एवं हलकी सुरँग चूनरी ओढ़े हैं। वायु के झकोरे, जो अपने ही हलकेपन के कारण पानी में नहीं डूबते, हलके आसमानी धूप-छाँह के बारीक वस्त्र पहने हैं। दोनों एक दूसरे के बाहु-पाश में बंधकर, अंग-भंगी-पूर्वक गीत-नृत्य करते हैं।]

लहरों का गीत

अपने ही सुख से चिर चंचल
हम खिल-खिल पड़ती हैं प्रतिपल !
जीवन के फेनिल-मोती को
ले-ले चल-करतल में टलमल !

जाने किस मधु का मलय परस
करता प्राणों को पुलकाकुल,
जीवन की लहलह लतिका में
विकसा इच्छा के नव-नव दल !

सुन-सुन मधु-मुरली की मृदु ध्वनि
गृह-पुलिन नाँघ, सुख से विह्वल,
हम हुलस नृत्य करतीं हिल-मिल,
खस खस पड़ता उर से अंचल !

चिर जन्म-मरण को हँस-हँसकर
हम आलिंगन करतीं पल-पल,
फिर-फिर असीम से उठ-उठकर
फिर-फिर उसमें हो-हो ओझल !

हवा के हिलोरों का गीत

हम चिर अदृश्य नभचर सुंदर
अपनी ही लघिमा पर निर्भर।
शोभित मृदु नीलांशुक तन पर,
स्मित तुहिन-वाष्प से पुलकित पर!

अपने ही सुख से सिहर-सिहर
नभ-वीणा के-से स्वर्गिक स्वर
छा देते अग-जग का अंबर
लहरा लहरों से लहरों पर!

अधरों में भर अस्फुट मर्मर,
साँसों से पी सौरभ सुखकर
फिरते दिशि-दिशि में निशि-वासर
चढ़ चित्रग्रीव चल जलदों पर।

हम साँस-साँस में लास अमर
करते, दुर उर-उर के भीतर,
बनकर फिर झंझा - से दुर्धर
द्रुत जीर्ण जगत-दल लेते हर!

खिल उठते चपल परस पाकर
पुलकों से तृण-तरुदल सत्वर,
नाचतीं संग विवसना लहर
बाँहों में कोमल बाहें भर!

संयुक्त गीत

लहर—हम कोमल सलिल हिलोर नवल,

झकोर—हम मारुत मधुर झकोर चपल !

लहर—हम मुग्धा नव-यौवन चंचल,

झकोर—हम तरुण, मिलन-इच्छा विह्वल !

लहर—हम लाज-भीरु खुल पड़ता तन,

झकोर—सुंदर तन का सौंदर्य वसन !

लहर—श्लथ हुए अंग सब सिहर-सिहर,

झकोर—आकुल उर काँप रहा थर - थर !

लहर—हम तन्वि, भार यह नव - यौवन,

झकोर—नवला का आश्रय आलिंगन !

लहर—हम नव लतिका !

झकोर—हम नव तरुवर !

दोनो—है प्रेम - पाश स्वर्गीय, अमर !

[दोनो गीत-नृत्य करते-करते सरोवर में ओझल हो जाते हैं। पवन बाँसुरी बजाना बंद करता है। प्राची की ओर, गिरि-शिखरों के अंतराल से, उदित होता हुआ सूर्य-बिंब दिखलाई पड़ता है। सरोवर में कमल खिल गए हैं। मध्यवर्ती एक विशाल नीलोत्पल पर आकाश से मानो आलोक का एक जाज्वल्यमान निर्झर बरस पड़ता है, जिसके भीतर उज्ज्वल रश्मियों से निर्मित, देवबाला की तरह, प्रकाश की सूक्ष्म आभा-मूर्त्ति दिखाई पड़ती है। सारा विश्व आलोक-प्लावित हो उठता है !]

उषा—कैसा दिव्य स्वरूप है।

[सहसा वीणा की-सी गुंजार सुनाई पड़ती है। चारोओर से नीले-पीले रेशमी वस्त्रों से भूषित, भौंरों के बालक और बालिकाएँ आकर, पंख खोले, नीलोत्पल के चतुर्दिक् मँडराकर गीत-नृत्य करते हैं। ओस, फूल, दूब, पल्लव, किरणें आदि सब किनारे पर एकत्रित होकर मूक-भाव से प्रार्थना में सम्मिलित होते हैं।]

गीत

अविचल, अतल, अकूल, अमल जल,—
विकसित जिसमें जीवन-शतदल
नाम-नाल पर विपुल रूप-दल !
बहु-छवि, बहु रँग-रुचि रंजित दल,
प्रचुर कामना चय मरंद कल,
गुंजित, पुंजित चहुँ दिशि चंचल
अखिल चराचर आकुल अलिदल !
सुख-परिमल पुलकित दिशि-अंचल,
निखिल प्रेम मधुमय अंतस्तल,
मधुरस पूरित, मुखरित प्रतिपल
विशद विश्व मधुमल-गृह अविकल !

[गीत अभी समाप्त नहीं होता, यवनिका गिरती है।]

इति

कुछ उत्तमोत्तम नाटक

कीचक

लेखक, पं० भगवन्नारायण भार्गव बी० ए०, एक्स-एम० एल० सी०। द्रौपदी-सहित पाँचो पांडवों का नाम और वेश बदलकर विराट-देश के राजा के आश्रम में अज्ञात-वास का समय बिताना। राजा के सेनाध्यक्ष, दुराचारी, लंपट कीचक का सैरिंध्री-नामधारिणी द्रौपदी पर कुदृष्टि डालना। भीम का कीचक को यमालय पहुँचाना। कीचक की विषय-वासना और इंद्रिय-लोलुपता का खासा खाका। राजा का कीचक के हाथ का खिलौना होना। पागल और भिखारी प्रभृति द्वारा राज्य में अत्याचार, अन्याय और धर-पकड़ का साम्राज्य। हास्य-रस का पुट तो ग़ज़ब ही ढाता है! नाटक रंग-मंच पर खेलने-योग्य है। मूल्य १), सजिल्द १॥)

बुद्ध-चरित्र

अनुवादक, पं० रूपनारायण पांडेय कविरत्न। पांडेयजी ने बँगला के अनेक विख्यात नाटकों का ऐसा भाव-पूर्ण अनुवाद किया है कि वे बिलकुल मौलिक-से मालूम होते हैं। समाज, भाव, भाषा, शैली, सब पर हिंदीपन और स्वाभाविकता की छाप लगी हुई है। राजसी सुख-भोग की

लालसाओं को लात मारकर, अपनी आध्यात्मिक उन्नति के लिये संसार के सारे सुखों को तिलांजलि देकर महात्मा बुद्धदेव किस प्रकार आत्मचिंतन और वैराग्य में लीन हुए थे, इसका स्पष्ट चित्र देखना हो, तो यह नाटक अवश्य पढ़िए। ज्ञान, शिक्षा, उपदेश, पवित्रता और शांति तथा प्रेम से पूर्ण ऐसा मनोरंजक नाटक आपने शायद ही अब तक पढ़ा हो। सी० पी०, दिल्ली आदि में मैट्रिक के लिये पाठ्य-पुस्तक। ४-५ चित्रों-सहित पुस्तक का मूल्य ॥।), सुंदर रेशमी जिल्द का मूल्य १।)

पतिव्रता

मूल-लेखक, बँगला के सुप्रसिद्ध नाटककार स्वर्गीय गिरीशचंद्र घोष। अनुवादक, पं० रूपनारायण पांडेय। यह एक बढ़िया नाटक है। इसकी विशेषता इसी से जानी जा सकती है कि अनेक ग्रंथों के रचयिता स्वनाम-धन्य पांडेयजी ने इसका अनुवाद किया है। नाटक सामाजिक है। इसमें एक भले आदमी का बिगड़ना और अंत में पतिव्रता स्त्री के प्रभाव से सुधरना, बड़ी खूबी से दिखाया गया है। स्त्री-पुरुष सबके पढ़ने लायक़ है। दो रंगीन और दो सादे चित्र। पृष्ठ-संख्या २४०; मूल्य १।=), सजिल्द १॥=)

संचालक गंगा-ग्रंथागार

२६ लाटूश रोड, लखनऊ